संस्कृति

कोणार्क का सूर्य मंदिर

भारतीय उपमहाद्वीप के पूर्वी तट पर स्थित कोणार्क का सूर्य मंदिर, सूर्य देवता के रथ का स्मारक–संबंधी प्रतिनिधित्व करता है। इसके 24 पहिए प्रतीकात्मक संरचनाओं से सुसज्जित हैं जिनके साथ 6 घोड़ों का समूह है। मंदिर की वास्तुकला कला के उदाहरणों में से एक है जो इसकी अवधारणा, पैमाने और अनुपात में तथा मूर्तिकला अलंकरण की उदात्त कथा शक्ति में प्रकट होती है। यह ओडिशा की 13वीं शताब्दी के शासन काल का एक उत्कृष्ट प्रमाण है। यह मंदिर कलिंग की मंदिर वास्तुकला की पराकाष्ठा है। वर्ष 1984 में इसे यूनेस्को विश्व धरोहर स्थल की सूची में शामिल किया गया था।

सत्यमेव जयते

अंक : 24
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय

आज़ादी का अमृत महोत्सव

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता,**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और
राष्ट्र की एकता और अखंडता
सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हज़ार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

संस्कृति

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

मार्च, 2023 अंक–24

संरक्षक :
गोविंद मोहन, सचिव

मुख्य परामर्शदाता :
संजुक्ता मुदगल, संयुक्त सचिव

सम्पादक :
डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य, निदेशक

उप सम्पादक :
शिशिर शर्मा, उप निदेशक

संपादन सहयोग :
राजभाषा प्रभाग के समस्त पदधारी

विशेष संपादन सहयोग :
नरेश अरोड़ा
इकबाल अहमद

मुख्य आवरण : कोणार्क का सूर्य मंदिर

अंतिम आवरण : कोणार्क स्थित सूर्य मंदिर के घोड़े का दृश्य

संपादकीय पता :
डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य, निदेशक (राजभाषा)
केन्द्रीय सचिवालय ग्रंथागार, भू–तल,
शास्त्री भवन, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड,
नई दिल्ली–110001
☎ 91 011–23383032
ई–मेलः dirol-culture@nic.in
hindicsl@gmail.com

(यह पत्रिका मंत्रालय की वेबसाइट : www.indiaculture.nic.in पर उपलब्ध है)

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली–110001

संस्कृति पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार और तथ्य लेखकों के हैं, उनसे मंत्रालय या सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

जी. किशन रेड्डी
संस्कृति, पर्यटन एवं
उत्तर पूर्वी क्षेत्र विकास मंत्री
भारत सरकार

G. Kishan Reddy
Minister of Culture, Tourism and
Development of North Eastern Region
Government of India

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संदेश

भारत की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसकी विशेषता यह है कि यह नित्य–प्रति नया स्वरूप धारण करते हुए भी अनवरत रूप से जारी है। भारत की संस्कृति न केवल भारत के लोगों को, बल्कि पूरे विश्व को मानव जीवन के वास्तविक प्रयोजन से अवगत कराने के साथ साथ इस जीवन को सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने का मार्ग भी बताती है। हमारे देश की संस्कृति को आध्यात्मिकता पर आधारित संस्कृति माना गया है जिसमें समस्त विश्व को एक परिवार कहा गया है तथा प्राणी मात्र के कल्याण की मंगल कामना की गई है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति जीवन के वास्तविक मूल्यों को प्रतिबिंबित करती है।

'संस्कृति' के विभिन्न पक्षों को उजागर करती 'संस्कृति' पत्रिका के 24वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी शुभकामना है।

(जी. किशन रेड्डी)

अर्जुन राम मेघवाल, आई.ए.एस. (रिटायर्ड)
Arjun Ram Meghwal, IAS (Retd.)

संसदीय कार्य और संस्कृति राज्य मंत्री
भारत सरकार, नई दिल्ली-110001
MINISTER OF STATE FOR PARLIAMENTARY AFFAIRS AND CULTURE GOVERNMENT OF INDIA, NEW DELHI-110001

सत्यमेव जयते

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संदेश

संस्कृति विश्व के किसी भी राष्ट्र, समुदाय, जाति और धर्म के लिए एक आत्मा है और उसकी पहचान उनकी संस्कृति से ही की जाती है। संस्कृति को साधारण भाषा में समझें तो एक सामान्य मनुष्य को सामाजिक प्राणी बनाने में जिन मूल्यों, तत्वों और मान्यताओं का योगदान होता है उसे ही संस्कृति कहते हैं। संस्कृति हमें जीवन के आदर्शों का पालन करने की प्रेरणा देती है तथा भारत की संस्कृति वसुधैव कुटुम्बकम जैसे उद्देश्यों पर आधारित है। भारत की संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है जिसमें वे सभी गुण हैं जो किसी समाज और राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए आवश्यक होते हैं। मानव जीवन का क्या उद्देश्य है, इसे कैसे जिया जाए और देश तथा समाज को किस प्रकार संगठित रखा जाए, इसके लिए हमारे देश के प्रबुद्ध पुरुषों, संत–महात्माओं और पीर–फकीरों द्वारा समय समय पर सृजित कृतियों द्वारा समाज का मार्गदर्शन किया गया है। यही कारण है कि हमारा देश अनेकता में भी एकता और बंधुत्व के सूत्र में बंधा हुआ है।

विभिन्न तरह के मानवीय मूल्यों पर प्रकाश डालती 'संस्कृति' पत्रिका के 24वें अंक के प्रकाशन हेतु मेरी ओर से पूरे संपादक मंडल को मंगल कामनाएं।

(अर्जुन राम मेघवाल)

मीनाक्षी लेखी
MEENAKSHI LEKHI

विदेश एवं संस्कृति राज्य मंत्री
भारत सरकार,
नई दिल्ली-110001
MINISTER OF STATE FOR
External Affairs & Culture
Government of India, New Delhi-110001

संदेश

अनेकता में एकता भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। सदियों से इस देश में अलग अलग धर्मों, आस्थाओं को मानने वाले और भिन्न भिन्न प्रकार की भाषाएं बोलने वाले लोग पारस्परिक सामंजस्यता के साथ रहते आए हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इसे सामासिक संस्कृति भी कहा गया है। आधुनिक काल में शिक्षा और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में निरंतर रूप से हो रहे अनुसंधानों से काफी बदलाव हुए हैं और आम जन के जीवन स्तर में भी काफी सुधार हुआ है। यह हम सभी भारतीयों की सकारात्मक सांस्कृतिक सोच का ही परिणाम है।

सांस्कृतिक विषयों पर आधारित 'संस्कृति' पत्रिका के 24वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से हार्दिक शुभकामनाएं।

मीनाक्षी लेखी

(मीनाक्षी लेखी)

गोविंद मोहन
सचिव
Govind Mohan
Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

किसी भी देश की संस्कृति वहां के पूर्वजों द्वारा स्थापित जीवन मूल्यों को समझने और उनका संरक्षण करने में भावी पीढ़ी की मदद करती है। सांस्कृतिक और वैचारिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति अतुलनीय है क्योंकि इसमें सभी को साथ लेकर चलने ओर उन्हें स्वीकार करने की अपार क्षमता है। भारत में अलग–अलग धर्मों को मानने वाले, भिन्न–भिन्न भाषाएं बोलने वाले तथा विविध प्रकार की संस्कृतियों का अनुसरण करने वाले लोग निवास करते हैं। इसके बावजूद सभी लोग एक–दूसरे की धार्मिक भावनाओं और परंपराओं का सत्कार करते हैं, एक–दूसरे का सुख–दुख साझा करते हैं, धार्मिक व सामाजिक उत्सवों के अवसर पर एक साथ मिलकर आनंदित होते हैं तथा किसी भी संकट के समय एकजुट हो जाते हैं। यही भारत की संस्कृति है जिसकी पूरे विश्व द्वारा प्रशंसा की जाती है।

भारतीय संस्कृति के ऐसे ही पक्षों को दर्शाती 'संस्कृति' पत्रिका के 24वें अंक के प्रकाशन के लिए मेरी ओर से बधाई।

(गोविंद मोहन)

संजुक्ता मुदगल
संयुक्त सचिव
SANJUKTA MUDGAL
Joint Secretary

भारत सरकार
संस्कृति मंत्रालय
नई दिल्ली-110001
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF CULTURE
NEW DELHI-110001

संदेश

संस्कृति किसी भी समाज व देश की पहचान होती है और इसी से हमारे संस्कार परिलक्षित होते हैं। यह हमें एकता के सूत्र में बांधती है जिससे हममें एक सुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है। हम अपने देश की सभी भाषाओं, सभी आस्थाओं और जीवन मूल्यों का समान रूप से आदर करते हैं। अलग अलग तरह की धार्मिक आस्थाओं व परम्पराओं का अनुसरण करते हुए भी हम सभी देशवासियों में एक भारतीयता की भावना हृदय की गहराइयों में सदैव विद्यमान रहती है। यही हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

संस्कृति पत्रिका का 24वां अंक प्रकाशित होने जा रहा है, इसके लिए मेरी ओर से शुभकामनाएँ।

संजुक्ता मुदगल

(संजुक्ता मुदगल)

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संपादकीय

संस्कृति पत्रिका का यह 24वां अंक सुधी पाठकों को समर्पित करते हुए मुझे अपार खुशी हो रही है। इसमें यह बात भी महत्वपूर्ण है कि पत्रिका के प्रकाशित पिछले अंकों के बारे में भी हर तरफ से सकारात्मक प्रतिक्रियाएं प्राप्त हो रही हैं जोकि वास्तव में हमारे लिए काफी उत्साहवर्धक और मनोबल को बढ़ाने वाली हैं। किसी भी देश की संस्कृति को जाने बिना उस देश की सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक दशा का मूल्यांकन करना संभव नहीं है। विश्व में जितने भी देश हैं उन सभी की अपनी अपनी विशिष्ट संस्कृतियां हैं जिनके आधार पर ही उन देशों की पहचान होती है। अधिकांश देश धर्म, भाषा और विशिष्ट जीवन शैली और नस्लों के आधार पर वर्गीकृत हैं परंतु इसके विपरीत भारत ही विश्व का एकमात्र ऐसा देश है जहाँ हमें हर धर्म, हर मजहब और अलग अलग तरह के भाषा–भाषी तथा अलग अलग संस्कृतियों, मान्यताओं और संस्कारों में आस्था रखने वाले लोग मिल जाएंगे। हम अपने देश में ही पूरे विश्व की झलक देख सकते हैं क्योंकि यहाँ सभी तरह की संस्कृतियां फलीभूत हैं। इतनी सारी विविधताओं के होते हुए भी हम सब भारतीय हैं और इस भारतीयता का एहसास हमें हमारी संस्कृति ही कराती है जो कि भिन्न भिन्न प्रकार के फूलों के एक गुलदस्ते की तरह खूबसूरत है और सदा महकती रहती है। मौजूदा अंक में हमने **'दो यात्रा, दो बिंब, एक फल'**, **'मीणा आदिम समुदाय के विवाह गीत'**, **'तमिलनाडु का सांस्कृतिक दर्शनः लोकगीत और लोकनृत्य'**, **'संस्कृति नीति के विकास की आवश्यकता तथा आस्था, विश्वास एवं 'अध्यात्म के संगम स्थल–थरूहट क्षेत्र का त्रिवेणी मेला–** जैसे ज्ञानवर्धक लेख शामिल किए हैं। आशा है कि पाठकों को ये पसंद आएंगे। हमारा प्रयास रहता है कि हम पत्रिका के हर अंक में अपने देश की विभिन्न संस्कृतियों, कलारूपों, महत्वपूर्ण स्मारकों और भारतीय जीवन शैलियों आदि के बारे में अपने सुधी पाठकों को अवगत कराते रहें। इसी के साथ हमारा सभी पाठकों और विद्वानों से यह भी अनुरोध है कि वे भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उनके अपने क्षेत्र से संबंधित कोई भी महत्वपूर्ण जानकारी जिसे वे आम नागरिकों के साथ साझा करना चाहते हैं, एक लेख के माध्यम से संपादक के पते पर भेज सकते हैं ताकि अन्य लोग भी उसके बारे में जानकारी प्राप्त कर सकें। पत्रिका को और अधिक ज्ञानवर्धक और उपयोगी बनाने के लिए पाठकों की ओर से बहुमूल्य सुझावों का हम सदैव स्वागत करते हैं।

(डॉ. रामचन्दर रमेश आर्य)

विषय–क्रम

पृष्ठ संख्या

1. संस्कृति–नीति के विकास की आवश्यकता 1–4
प्रोफेसर गिरीश्वर मिश्र

2. लोक आस्था, विश्वास एवं अध्यात्म के संगम स्थल–थरूहट क्षेत्र का त्रिवेणी मेला 5–9
डॉ. नम्रता कुमारी

3. पूर्वोत्तर राज्य त्रिपुरा और उसका सांस्कृतिक इतिहास 10–13
इकबाल अहमद

4. भारतीय भाषाओं की अस्मिता एवं प्रासंगिक सौहार्दता 14–17
डॉ. राजेन्द्र मिलन

5. भित्ति चित्रों की कला परम्परा 18–20
चन्द्रकांता शर्मा

6. मीणा आदिम समुदाय के विवाह गीत 21–31
हरिराम मीणा

7. मुरिया जनजाति का पूस कोलांग नृत्य 32–37
रजनी शर्मा बस्तरिया

8. वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ में क्या बन्दर थे हनुमान 38–43
राज सक्सेना

9. वीरांगना झलकारी बाई 44–46
गिरेन्द्र सिंह भदौरिया "प्राण"

10. तमिलनाडु का सांस्कृतिक दर्शनः लोकगीत और लोकनृत्य 47–49
डॉ. राजलक्ष्मी कृष्णन

11. दो यात्रा, दो बिंब, एक फल 50–53
डॉ. गरिमा संजय दुबे

12. इस्लाम और पर्यावरण 54–59
डॉ. मोहसिन खान

13. असम में नागरी हिंदी का प्रभाव और संत गोपाल आता 60–62
परीक्षित नाथ

14. अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, विक्रमशिला 63–66
डॉ. सर्जुन प्रसाद

15. प्रचलित हस्त शिल्प, उद्योग तथा व्यापार में शौका जनजाति का योगदान 67–72
डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता

16. क्रांतिकारियों का तीर्थस्थल : अण्डमान 73–77
अखिलेश आर्येन्दु

17. झालरापाटन के प्राचीन मन्दिरों का अद्‌भुत शिल्प वैभव 78–82
ललित शर्मा

18. शुभकार्यों की शुरुआत का दिन मकर संक्रांति 83–86
भुवनेश्वर राय

भारतीय संस्कृति का प्रतीक

संस्कृति नीति के विकास की आवश्यकता

प्रोफेसर गिरीश्वर मिश्र, पूर्व कुलपति,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी
विश्वविद्यालय, वर्धा

संस्कृति लोक–जीवन की सतत् सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का पुंज होती है जिसका इतिहास, साहित्य, शिक्षा, विविध कला रूपों, स्थापत्य, शिल्प तथा जीवन–शैली आदि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। संस्कृति को उन उदात्त जीवन मूल्यों के रूप में भी देखा जाता है जो आदर्श रूप में प्रतिष्ठित होते हैं और समाज की गतिविधि के लिए उत्प्रेरक का काम करते हैं। बहु–आयामी संस्कृति की सत्ता अनेकानेक मूर्त और प्रतीकात्मक परम्पराओं में रची–पगी और सामाजिक जीवन में विभिन्न रूपों में उपस्थित रहती है। वह वाचिक प्रथाओं और व्यवहारों के प्रत्यक्ष अभ्यासों के रूप में पीढ़ी–दर–पीढ़ी संक्रमित होते हुए आगे बढ़ती है। संस्कृति के सभी पक्षों में समय के साथ परिवर्तन भी अनिवार्य रूप से घटित होते हैं। दूसरी संस्कृति(यों) के साथ सहयोग और (या) संघर्ष की प्रवृत्ति वाले प्रभाव भी जन्म लेते हैं। उनको लेकर क्रिया–प्रतिक्रिया भी होती है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर आतंरिक और बाह्य प्रभावों के फलस्वरूप संस्कृति में उतार–चढ़ाव भी परिलक्षित होते हैं।

संस्कृति–यात्रा के मार्ग में व्यवधान भी आते हैं, संस्कृति का रूपांतरण भी होता है और अंशतः क्षरण या लोप भी होता है। अपसंस्कृति की चुनौती भी आती है और सांस्कृतिक पुनराविष्कार तथा पुनर्जीवन भी होता है। दूसरी संस्कृति(यों) के साथ सम्पर्क में आने पर उनके बीच होने वाला पारस्परिक संवाद और आदान–प्रदान कई प्रकार का होता है तथा विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों की आवाजाही निरंतर बनी रहती है। कहना न होगा कि सांस्कृतिक संपर्क का वेग और आकार संचार, राजनैतिक रिश्तों और गमनागमन की सुविधाओं की उपलब्धता के साथ घटता बढ़ता रहता है। आज के वैश्वीकरण के दौर में सूचना प्रौद्योगिकी की क्रान्ति के चलते कई स्तरों पर सांस्कृतिक संचरण अप्रत्याशित रूप से प्रबल हो रहा है। परन्तु महात्मा गाँधी के शब्दों में कहें तो श्रेयस्कर स्थिति यही है कि हम अपनी जमीन पर टिके रहें और घर की खिड़कियाँ खुली रहें ताकि बाहर की हवा आती जाती तो रहे, पर हम जड़ों से न उखड़ें, तभी संस्कृति की अनुकूलता और उर्वरता बनी रहती है। भारत में संस्कृति के स्वरूप, उसमें बदलाव और अपसंस्कृति के प्रश्न चर्चा के केंद्र में आ रहे हैं। आज संस्कृति की पहचान और उससे सम्बद्धता निश्चय ही राष्ट्रीय विमर्श में महत्वपूर्ण प्रश्न बन रहे हैं।

वस्तुतः संस्कृति वर्तमान में रहते हुए एक ओर जहां अतीत को प्रतिबिम्बित करती है, तो दूसरी ओर भविष्योन्मुखी दृष्टि से समाज को विभिन्न जीवन व्यापारों में संलग्न भी करती है। समाज स्वभाव से ही कर्म या व्यवहार के धरातल पर अपने को निरंतर रचने–रचाने में लगा रहता है। इसीलिए संस्कृति हमें सदैव गतिशील रूप में ही उपलब्ध रहती है और 'चरैवेति ! चरैवेति !' ही संस्कृति की जीवन्तता का सूत्र है। यह अलग बात है कि समझने की सुविधा के लिए हम संस्कृति का एक ठहरा चित्र (स्टिल फोटोग्राफ) ग्रहण कर लेते हैं और उसे चिरस्थायी मानने का भ्रम भी पाल बैठते हैं।

चूँकि मनुष्य स्वभावतः एक संस्कृति जीवी प्राणी है, इसलिए संस्कृति की जीवन्तता बनाए रखना प्रत्येक

समाज का दायित्व बन जाता है। साहित्य, संगीत और कला से हीन मनुष्य को 'पशु' कहा जाता है। आज विश्व में प्रत्येक सचेत समाज अपनी संस्कृति को सँजोने और समृद्ध करने के लिए यत्नशील देखा जा सकता है। संसार में हर जगह अपना सांस्कृतिक गौरव–बोध बनाए रखने के लिए तरह–तरह के प्रयास किये जा रहे हैं और इस कार्य को मानवोपयोगी स्वीकार करते हुए वैश्विक स्तर पर यूनेस्को जैसी संस्था गठित की गई है जो सांस्कृतिक संसाधनों के संरक्षण और संवर्धन के कार्य को अंजाम देती है। सभी देश अपने यहाँ की संस्कृति के विभिन्न पक्षों को लेकर नाना प्रकार के आयोजन करते रहते हैं। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि संस्कृति समाज के लिए स्मृति की भाँति कार्य करती है जिसके बिना अपनी पहचान और अस्मिता का निर्माण एक कठिन चुनौती का रूप ले लेता है। इस तरह संस्कृति का स्पंदन सामाजिक जीवन को समृद्ध करता है और उत्कृष्टता की ओर निर्दिष्ट करता है। संस्कृति में संलग्नता अनंत संभावनाओं को जन्म देती है। आज संस्कृति को 'साफ्ट पावर' कहा जा रहा है और संस्कृति का गौरव–बोध सभी सभ्य समाजों में महत्त्व पा रहा है।

भारत को 1947 में स्वतंत्रता मिली, पर स्वराज की अवधारणा और प्रयोग में औपनिवेशिक परिवेश में स्थापित वैचारिक और सांस्कृतिक दृष्टि बनी रही। मैकाले की शिक्षा नीति के चलते अंग्रेजों का प्रभाव आगे भी बना रहा। विकास की अवधारणा और उसके संचालन पर इस पृष्ठभूमि की घनी छाया पड़ती रही। पिछले दशकों में परिस्थितियां बदली हैं, तथापि स्थिति को संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। विकास की पश्चिमी अवधारणा हावी रही और शहर केन्द्रित मान कर सारे आयोजन होते रहे। उसी के साथ गाँव और शहर दोनों की संरचना और स्वभाव भी बदला है, फिर भी सांस्कृतिक परिदृश्य की चर्चा में गाँव के लोक–जीवन को केंद्र में रखना आवश्यक होगा जो संस्कृति का मूल उत्स है। इस दृष्टि से यह रेखांकित किया जाना आवश्यक है कि संस्कृति मूलतः लोकाभिमुख होती है और गहन लोक–व्याप्ति ही उसकी शक्ति है। संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी वाचिकता है। आज भी ग्रामीण क्षेत्र में वाचिक परम्पराओं में रची–बसी जीवनचर्या सभी पृष्ठभूमियों के आमजनों के जीवन में प्रखर रूप में जीवित है। वाचिक परम्परा में ढले लोक–नाट्य, लोक–गीत और लोक–वाद्य आज भी मेले, पर्व और उत्सव में आकर्षण के केंद्र रहते हैं। वाचिकता में मानवीय रिश्तों की निकटता और ऊष्मा स्वाभाविक रूप से पारस्परिकता और साझेदारी का अवसर देती है।

तीव्र नगरीकरण और बाज़ार के प्रभाव बढ़ने के बावजूद प्रदेश की जनसंख्या के बहुत बड़े भाग में आज भी जीवन में कृषि–कर्म केंद्रीय बना हुआ है और सांस्कृतिक चेतना को अनुप्राणित करता है। धरती और ऋतुएँ आज भी खेती–किसानी के इर्द–गिर्द जीवन को संचालित कर रही हैं। इस विस्तृत लोक–जीवन में सांस्कृतिक आयोजन (जैसे–भिखारी ठाकुर के नाटक, नौटंकी, लोरिकायन, इसुरी के फाग, रास–लीला, राम–लीला, हरि–कीर्तन, मानस–गायन, भागवत–कथा, राम–कथा) और विभिन्न अंचलों में प्रचलित लोक–गायन (जैसे–बिरहा, आल्हा, सोहर, चौता, होली, कजरी, संस्कार–गीत, श्रम–गीत) बहुमूल्य सांस्कृतिक सम्पदा निर्मित करते हैं। लोक–संस्कृति की सम्पन्नता यहाँ की वेशभूषा, खानपान, व्यंजन, तीज–त्योहार, रहन–सहन, भाषा–बोली इत्यादि में परिलक्षित होती है। घर में प्रयुक्त छोटे छोटे उपकरण (यथा–दौरी, मौनी, सूप, तसला, लोटा, थाली, तकली, चरखा, चक्की, ओखल, मूसल, सिल–बट्टा) भी स्थानीयता की छाप रखते हैं। पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म, फल, फूल, शाक, सब्जी, जड़ी, बूटी आदि की विविधता से परिचित कराता यहाँ का पर्यावरण ज्ञान और अनुभव की दृष्टि से समृद्ध करने वाला है। गाँव के परम्परागत व्यवसाय में लगे सुनार, लोहार, बढ़ई, नाई (हजाम), भिश्ती, कहार, कोइरी, माली,

जुलाहा, वैद्य, हकीम, पंडित, पुजारी, मौलवी अपने ज्ञान, अभ्यास, उपकरण और शब्दावली के साथ संस्कृति के सृजन और संरक्षण में भी लगे होते हैं।

आज जब जलवायु परिवर्तन, विषाक्त आहार, वायु और जल के प्रदूषण की समस्याओं से सारा विश्व जूझ रहा है, ग्राम्य जगत की सांस्कृतिक परम्पराएँ प्रकृति के अनुकूल जीवन शैली के साथ प्रभावी विकल्प प्रस्तुत करती हैं। ऐसे में यहाँ की संस्कृति की विस्तृत अनमोल विरासत की रक्षा और संवर्धन समाज और सरकार दोनों का मानवीय दायित्व बन जाता है। इनका विस्मरण और हानि अपूरणीय क्षति होगी। लोक हमारे ज्ञान का एक सतत् स्रोत है और विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा कि पूरे भारत के साहित्य जगत में यह लोक–ज्ञान और लोक–अनुभव कालजयी रचनाओं को जन्म देता रहा है।

आज टिकाऊ (सस्टेनेबल) विकास को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विकास कार्यक्रम (एस डी जी) का हिस्सा बनाया गया है। इस दृष्टि से संस्कृति का समावेश करते हुए ही विकास कार्य किये जाने का यत्न होना चाहिए। इसलिए सांस्कृतिक जीवन को समग्र रूप से ध्यान में रखते हुए ही विकास की योजना उपयुक्त होगी। विकास यात्रा में संस्कृति की क्या जगह हो और उसके लिए क्या किया जाना चाहिए, इस पर गहन विचार आवश्यक है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि जड़ों को सींचना आवश्यक है। दूसरी जगह से लेकर कलम लगाने और प्रत्यारोपण के कई खतरे हैं। यहाँ की सांस्कृतिक बहुलता और उर्वरा शक्ति को संजोना हमें निरंतरता देगा और निर्मूल होने से बचाएगा।

संस्कृति की व्यापक सत्ता अनेक स्तरों पर समाज के जीवन को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में प्रभावित करती है। वर्तमान में सरकारी तंत्र में अनेक विभाग और संस्थाएँ हैं जो संस्कृति के विभिन्न पक्षों का दायित्व निर्वहन कर रही हैं। इनके बीच में सामंजस्य बहुत जरूरी है। शासन के सकारात्मक रुख के बावजूद अनेक योजनाएँ आरम्भ ही नहीं हो पाती हैं या फिर अपूर्ण रह जाती हैं अथवा कम गुणवत्ता के साथ और विलम्ब से पूरी हो पाती हैं। इस दृष्टि से सांस्कृतिक कार्य में तालमेल बैठाने के लिए विभिन्न विभागों (यथा–शिक्षा, वित्त, पर्यटन, वन, सार्वजनिक कार्य, धर्म कार्य) के अधिकार प्राप्त समूह का गठन होना चाहिए जो आवश्यक निर्णय ले और उसका अनुपालन सुनिश्चित करे। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि उत्तर प्रदेश का गठन और सीमांकन कई बार हुआ है जिसके कारण संस्कृति से जुड़े अनेक मामले निकटवर्ती हैं। राज्यों की सीमाओं से भी जुड़े हैं। इसलिए कार्य में सुगमता के लिए कई दृष्टियों से अंतर–राज्यीय सहयोग स्थापित करने की प्रभावी व्यवस्था आवश्यक है।

संस्कृति मानव कर्त्तव्यों को विविध आयामों में व्यक्त करती है जिसका आधार पारस्परिकता है, जैसा कि वेद में उल्लेख आता है कि मनुष्य को मनुष्य मात्र और अन्य सभी जीवों की रक्षा में संलग्न होना चाहिए 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद 6.75.5.14)। इस बात को यदि भारतीय परम्परा के प्राचीन मुहावरे में रख कर देखें तो मानव को केन्द्र में प्रतिष्ठित कर संस्कृति के चार आधारभूत पक्ष उपस्थित होते हैं: 1. वेद– जानने (जिज्ञासा) की संस्कृति, 2. यज्ञ– अर्जन और वितरण की संस्कृति, 3. योग– अप्राप्तस्य प्राप्ति प्राप्तस्य संरक्षणम् की संस्कृति, और 4. पुराण– पुनः पुनः नवीकरण की संस्कृति। वस्तुतः संस्कृति का लक्ष्य धर्म, अर्थ , काम और मोक्ष के चार पुरुषार्थों की साधना है, अतः उसी के अनुकूल नीति और व्यवहार अपेक्षित है। इस दृष्टि से उत्सुकता और सृजन के द्वारा ज्ञान–विज्ञान का विस्तार करने के लिए समुचित शिक्षा दी जानी चाहिए। जीवन हेतु आवश्यक भरण–पोषण के लिए संसाधन जुटाने के लिए धनार्जन और उसके सम्यक वितरण की व्यवस्था होनी चाहिए। संसाधनों का व्यय होता रहता है, इसलिए उसे पाने और नवीनीकरण

का उद्योग भी आवश्यक है। उसे सिर्फ दिखावे या प्रदर्शन की वस्तु के रूप में ग्रहण करना अनुचित है। संस्कृति जीवन में रहती है और समाज के संस्कारों के सातत्य में प्रतिबिंबित होती है।

संस्कृति में निरंतरता है, किन्तु उसे बीते युग की चीज नहीं कहा जा सकता। संस्कृति की जीवन्तता के लिए आचार–प्रणाली, विचार–प्रणाली, विश्वास–प्रणाली, सौन्दर्य–चेतना, अभिव्यक्ति प्रणाली और उनकी प्रक्रियाओं के प्रति चेतना जगाना आवश्यक है। हिन्दी के यशस्वी लेखक प्रेमचंद जी ने बहुत पहले लिखा था, 'यह कितनी अनोखी लेकिन यथार्थ बात है कि सोए हुए मनुष्य को जगाने की अपेक्षा जागते हुए मनुष्य को जगाना कठिन है' (सेवा सदन, पृष्ठ 126। यह टिप्पणी आज की परिस्थितियों में भी पूर्ववत प्रासंगिक है। इसके आलोक में संस्कृति का महत्त्व समझना, सांस्कृतिक महत्त्व के स्थलों, सामग्रियों, और प्रक्रियाओं को पहचानना, उनका समुचित दस्तावेजीकरण करना और नई पीढ़ी को परिचित कराना सरकार और समाज का धर्म बनता है। संस्कृति के स्वाद से परिचित होते हुए और सांस्कृतिक कार्य में संलग्न व्यक्ति में संस्था और समुदाय के स्तर पर परिपक्व और संतुलित सौन्दर्य–बोध का भी विकास होता है। संस्कृति का लोक–जीवन से गहन सम्बन्ध है। अतः सांस्कृतिक विकास के उपक्रमों में जन–भागीदारी को निरंतर सुनिश्चित किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से जन–चेतना को भी जागृत करना आवश्यक है और इस हेतु व्यवस्था में आवश्यक प्रावधान होने चाहिएं, न कि उसे पूरी तरह सरकारी बना दिया जाए। संस्कृति के संवर्धन की दृष्टि से संस्कृति का अध्ययन और अनुशीलन, सांस्कृतिक संपदा का अभिलेखन तथा प्रचार–प्रसार, संस्कृति सेवियों की प्रतिष्ठा और विनियोग, क्षेत्रीय भाषाओं तथा सांस्कृतिक संपदा का संरक्षण, नई पीढ़ी में सांस्कृतिक अभिरूचि का विकास, सांस्कृतिक स्मारकों का संरक्षण, प्राच्य ज्ञान के संरक्षण की व्यवस्था, सांस्कृतिक–स्थलों तथा कला–संपदा का संरक्षण तथा सांस्कृतिक स्थलों का विकास आदि महत्वपूर्ण विषय हैं।

संक्षेप में कहें तो संस्कृति संबंधी नीति के मोटे तौर पर तीन आयाम हैं: 1. भारतीय संस्कृति का संरक्षण और संवर्धन 2. अन्य संस्कृतियों का समादर तथा 3. अपसंस्कृति को हतोत्साहित करने का प्रयत्न। इन आयामों को लेकर सक्रिय होने के लिए संस्कृति और उसको स्थिर और गतिशील तत्वों, सभ्यता और संस्कृति की पारस्परिकता, सांस्कृतिक संक्रमण, संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वय तथा अपसंस्कृति की समझ विकसित की जानी चाहिए। उत्तर प्रदेश अपार संभावनाओं का प्रदेश है। सरकार के स्तर पर इन मुद्दों पर विचार होता रहा है और प्रयास भी हुए हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप से क्रियान्वयन के स्तर पर सीमित उपलब्धि ही हो सकी है। संस्कृति सभ्यता का आतंरिक प्रभाव होती है। जब तक नैतिक मूल्य और सात्विक वृत्ति के अनुशीलन के संस्कार युवा पीढ़ी में रोपने का उद्देश्य सांस्कृतिक नीति में नहीं होगा तब तक वह नीति सांस्कृतिक नीति नहीं होगी। संस्कृति नीति का सीधा उद्देश्य नैतिक परम्परा के विकास और ज्ञानानुशीलन को प्रबलतर बनाने का होना चाहिए। संस्कृति संबंधी नीति के निर्धारण और क्रियान्वयन को बहुत सचेत रूप से उनके हाथों में न दिया जाए जिनका पद अधिकारों के उपभोग से जुड़ा हो। इसे एक ऐसे क्षेत्र के रूप में विकसित किया जा सकता है जिसमें एक अनुभव की परिपक्वता और सक्रियता हो। इस सक्रियता के लिए वेतन के रूप में एक सहज सम्मान मात्र पर्याप्त होगा। जरूरी है कि हम भाषा, मजहब, खान–पान, आजीविका आदि से जुड़े सांस्कृतिक वैविध्य को जानें, उसके महत्त्व को मान दें और उनमें अंतर्निहित ऐसे सूत्रों को सामने लाएँ जो उन्हें एक–दूसरे से जोड़ते हैं, बंधुत्व और सांमजस्य का भाव तीव्र करते हैं और आध्यात्मिक उन्नयन का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

****

लोक आस्था, विश्वास एवं अध्यात्म के संगम स्थल–थरूहट क्षेत्र का त्रिवेणी मेला

डॉ. नम्रता कुमारी, सहायक प्रध्यापक
पूर्वी चंपारण, बिहार

मेले लोक संस्कृति की पहचान होते हैं। ये न केवल मनोरंजन प्राप्त करने के साधन होते हैं बल्कि आपसी मेलजोल तथा सद्भावना को बढ़ाते हुए सामाजिक संरचना को मजबूत बनाने का भी कार्य करते हैं। मेले प्रायः धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावना से जुड़े ही होते है, साथ ही मौसम में बदलाव तथा अवकाश के क्षणों में सामूहिक मनोरंजनार्थ भी आयोजित किये जाते हैं। अतः मेले आस्था के साथ साथ मानसिक शांति के प्रयोजनार्थ भी आयोजित होते रहे हैं। कुछ मेलों के पीछे ऐतिहासिक भावना भी छिपी रहती है, तो कुछ के पीछे धार्मिक भावना का लगाव होता है। प्रयोजन जो भी हो, मेला लोक जीवन में नवजीवन, नवउमंग तथा बहार लेकर आता है। भारत और नेपाल सीमा क्षेत्र पर बसी आदिवासी थारू संस्कृति में भी मेलों का अहम महत्त्व है। नवरात्रि का त्योहार हो या महावीर जयंती, रामनवमी हो या फिर शिवरात्रि का त्योहार, थारू उत्साह के साथ मेले का आयोजन करते हैं और मेले में भाग भी लेते हैं। ऐतिहासिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण से थरूहट क्षेत्र की पुण्यभूमि त्रिवेणी घाट का मेला सबसे अधिक महत्वपूर्ण मेला है। इस पुण्यभूमि के प्रति लोगों की आस्था का अंदाजा इससे लगता है कि माघ महीने की भीषण जाड़े की ऋतु में भी दूर–दराज से थारू और गैर थारू समुदाय के लोग नेपाल, सिक्किम, उत्तर प्रदेश, बिहार, तिब्बत और भूटान से भी ट्रेक्टर–ट्राली, बसों तथा निजी सवारियों से कांवर लेकर आते हैं तथा यहां पर स्नान कर भगवान भोलेनाथ का जलाभिषेक करते हैं।

भारत की उत्तरी सीमा पर नेपाल तथा भारत के सीमा क्षेत्र पर प्रकृति की सुरम्य गोद में बसती है "थारू जनजाति", जो अपनी विशिष्ट संस्कृति से यहाँ की धरती को प्रभावित करती है। नदी, वन, पर्वत और विभिन्न प्रकार के वृक्षों, मनोहारी छटाओं में विहार करते थारू यहाँ के मूल निवासी हैं। पौराणिक साहित्यों में कई ऐसे तीर्थों का नाम अंकित हैं जो बिहार राज्य के चंपारण जिले की सोमेश्वर दोन की पहाड़ियों से घिरे थरूहट क्षेत्र में अवस्थित हैं। सोमेश्वर पहाड़ की चोटी पर स्थित सोमेश्वर किले के दक्षिण चंपारण जनपद की उत्तरी सीमा पर बाणेश्वर शिखर अवस्थित है। यहीं पर रावण ने महादेव की उपासना की थी और बाण से पर्वत को भेदकर एक जलधारा का प्रवर्तन किया था, जिसके कारण इस शिखर का नाम "बाणेश्वर" और जलधारा का नाम बाणगंगा पड़ा। यथा–

'सोमेशात दक्षिणे भागे वाणेनाद्रि विभिद्य वै।
रावणेन प्रकाटिता जलधाराति पुण्यदा।
वाणगंगेति विख्याता या स्नाता चाधहारिणी।'

सोमेश्वर पर्वत के बाणेश्वर शिखर से पूर्व की ओर भिखनाठोरी तक दो और महत्त्वपूर्ण शिखर हैं जिन्हें मानदेव और कुंभकरण नाम से जाना जाता है। इस सम्पूर्ण पर्वतीय भू–भाग को "नर्तनांचल" और अरण्य क्षेत्र को "रावण तपोवन" कहते हैं। तपस्या के कारण तपोवन और नृत्य के कारण नर्तनांचल नाम वाराह पुराण में वर्णित है–थरूहट किसी क्षेत्र का नाम नहीं, बल्कि एक संस्कृति का नाम है।

थारू संस्कृति नदियों के किनारे पुष्पित और पल्लिवित हुई। जिस प्रकार प्राचीन सभ्यताओं का निर्माण नदियों के किनारे हुआ है, वैसे ही थारूओं ने भी गंडक नदी के किनारे एक सुसंस्कृत सभ्यता का निर्माण किया। थारू लोक गीतों में यह वर्णित है कि जल की उपलब्धता के कारण ही थारू नदियों के किनारे बस गए थे –

"जहाँ देखी नदी जल आसा तहा–तहा थारू
कीन्ह निवासा।
पछी किया सोत से पूर्व पूर्व सज कोसी सो
पछीव
एही मघ में कासिला थारू बसत गए
दोन–दारू।"

सोमेश्वर की चोटी के वन्य क्षेत्रों में निवास करने वाली थारू जनजाति प्राकृतिक संपदाओं से हरिपूरित है। गंडक नदी से लायी गयी उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी से यह क्षेत्र धन–धान्य से पूरित है। सोमेश्वर की जलधारा से सहस्त्रों जलधाराएँ प्रस्फुटित होती हैं। गंडक एवं अन्य सहायक नदियों की गोद में ही थरूहट की सभ्यता–संस्कृति पोषित हुई है। गंडक के बाद थरूहट की दूसरी बड़ी नदी बूढ़ी गंडक है। यह सोमेश्वर पहाड़ से निकलकर प्रायः जिले के बीचों बीच आ जाती है। पहाड़ से निकलने पर कुछ दूर पर इसका नाम गंडकी रहा है। उसके बाद सिकरहना और आगे चलकर बूढ़ी गंडक नाम से प्रसिद्ध हो जाती है। इसमें छोटी छोटी बहुत सी पहाड़ी नदियाँ आकर मिल जाती हैं। बरसात के दिनों यह विकराल रूप धारण कर लेती है। चंपारण की नदियाँ जिस भू–भाग से होकर प्रवाहित होती हैं उसे अपने संस्कार देती हुई आगे बढ़ती हैं। यही कारण है कि थारूओं में नदियों के प्रति असीम आस्था और विश्वास है।

वाल्मीकि नगर स्थित गंडक, पंचनद एवं सोनहा नदियों का संगम स्थल त्रिवेणी घाट बड़ा ही आध्यात्मिक एवं पावन स्थल है। प्राचीन ग्रंथों में गंडकी और त्रिवेणी में स्नान की महिमा भी गायी गयी है। स्नान करने से वाजपेय यज्ञ का पुण्य फल प्राप्त होता है। साथ ही सूर्य लोक की प्राप्ति भी होती है। पद्म पुराण के अनुसार ध्रुव का तपोवन गंडकी के तट पर ही विद्यमान है –

'गंडकीञ्च समासाध सर्वतीर्थ जलेद्भवाम्
वाजपेयम वापनोति सूर्य लोकञ्च गच्छति
ततो ध्रुवस्य धर्मज्ञ समाविश्च तपोवनम्
गुछा कोष महाभाग मोदते नात्र संशयः'।

पुरातत्व एवं प्राचीन साहित्य के वरिष्ठ विद्वान पं. हवलदार त्रिपाठी सहृदय ने उल्लेख किया है–"गंडकी के त्रिवेणी क्षेत्र में अनेक तीर्थ हैं जिनमें देविका संग्राम तीर्थ, पुलस्त्य और पुलह का आश्रम, बुद्ध तनया (चक्रा) संगम, पंचनद तीर्थ, गजोद्धार तीर्थ आदि पुण्य स्थल हैं।"

वर्तमान समय में ये सभी तीर्थ अतीत के गर्भ में समा गए हैं। गंडक नदी में हाथी (गज) तथा गोह (ग्राह) की लड़ाई की कथा काफी प्राचीन है। यह लड़ाई संभवतः त्रिवेणी संगम से ही शुरु होकर हाजीपुर के पास समाप्त हुई थी जिसमें भगवान विष्णु ने ग्राह से गज की मुक्ति कराई थी।

गंडक, पंचनद एवं सोनाह नदियों की त्रिवेणी के पार्श्व में स्थित पर्वत को त्रिकूट कहा गया है जिसका एक शिखर स्वर्ण का, दूसरा रजत का और तीसरा वैदूर्य का बतलाया गया है। कुश और लव के द्वारा यज्ञ का घोड़ा रोक लिये जाने पर हुए संग्राम में सेना सहित अनुजों के मूर्छित होने की सूचना पाकर स्वयं भगवान राम इस क्षेत्र में पधारे थे।

त्रिवेणी संगम–स्थल के दोनों छोरों पर लगने वाले इस अंतराष्ट्रीय पावन मेले की महत्ता एवं इसका इतिहास अति प्राचीन है। त्रिवेणी संगम पर स्थित है भगवान शंकर का भव्य स्वर्णजड़ित महाकालेश्वर मंदिर। पंचनद की पूरी पहाड़ी का नाम सोमेश्वर–पर्वत है जो 'वराह–पुराण' के अनुसार 'त्रिकुट' भी कहलाता है।

संगम क्षेत्र 'त्रिवेणी तीर्थ' कहलाता है। यह प्रयाग की तरह पवित्र माना जाता है। कहते हैं कि इसी क्षेत्र के सालकायन ऋषि को शिव का दर्शन हुआ था। मंदिर में शिलालेख के अनुसार 145 वर्ष पूर्व चंपकारण्य देश के नरेश उग्रसिंह के वंशज शिवभक्त महाराज नवल किशोर द्वारा इसे बनवाया गया था।

गंडक, पंचनद एवं सोनाह नदियों का संगम क्षेत्र त्रिवेणी तीर्थ कहलाता है। यह प्रयाग की तरह पवित्र माना जाता है। वराह पुराण के 144वें अध्याय के श्लोक 124 से 128 तक में कहा गया है कि त्रिवेणी स्थान पर देव–ऋषियों के साथ ब्रह्म निवास करते हैं और यहाँ चारों वेदों, सभी प्रकार के यज्ञों तथा सभी तीर्थों का वास भी है। माघी अमावस्या को प्रत्येक वर्ष यहा त्रिवेणी मेला लगता है। तीन नदियों का यह संगम बिहार, उत्तर प्रदेश और नेपाल का भौगोलिक संगम भी है। अतः यहाँ नेपाल, तिब्बत, सिक्किम, भूटान से लाखों श्रद्धालु आते हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय पावन मेले की महत्ता एवं इतिहास अतिप्राचीन है। रंग–बिरंगे परिधानों में सजे आदिवासियों के भीतर यह मेला वर्ष भर के लिए खुशी और उल्लास लेकर आता है। कहते हैं इसी क्षेत्र में सालकायन ऋषि को शिव का दर्शन हुआ था। श्रीमद्भागवद् गीता के अनुसार विष्णु के प्रिय भक्त "गज और ग्राह" की लड़ाई इसी स्थल से शुरु हुई थी जिसका अंत हाजीपुर के निकट कोनहारा घाट पर हुआ था। हरिहर की तरह प्रतिवर्ष माघ संक्राति को यहाँ मेला लगता है।

'वराहपुराण' त्रिवेणी–क्षेत्र को पुण्य–क्षेत्र कहता है जिसमें तीर्थों की चर्चा की गई है। इन्हीं तीर्थों में पुलस्त्य–पुलहाश्रम भी है जहाँ 'जड़भरत' ने त्रिजलेश्वर की पूजा की थी। पुलस्त्य और पुलह ने देविका संगम के पास तप किया था और सृष्टि रचने के लिए अलग आश्रम बनाया था। इन्हीं ऋषियों के आश्रम के पास जब घूमते–फिरते हुए राजा भरत ने त्रिजलेश्वर विष्णु का पूजन किया था तब भरत मोह के वशीभूत हो गए थे। फिर जब उनका मृगशरीर समाप्त हुआ तब वे जड़भरत कहलाए। उसी भरत के द्वारा पूजित होने से 'त्रिजलेश्वर' तीर्थ बना :–

'यदा च भरतो राजा पुलस्त्याश्रमान्तिके।
स्थित्वा पर्यचरिद्विष्णुं त्रिजलेशमपूजयत्।।
ततः प्रभूति तस्यासीद्वरतेनारितः स्फुटम्।
पुनश्च मृगदेहान्ते जडः स भरतोऽभवत्।।

यहाँ त्रिजलेश्वर नाम से ज्ञात होता है कि त्रिवेणी में ही उक्त विष्णु का स्थान है। वराहपुराण के 144वें अध्याय के श्लोक 124 से 128 तक में कहा गया है कि त्रिवेणी स्थान पर देव ऋषियों के साथ ब्रह्मा निवास करते हैं और चारों वेदों, सभी प्रकार के यज्ञों तथा सभी तीर्थों का वास भी है। अतः कार्तिक मास में जो कोई नित्य स्नान करते हुए यहाँ वास करता है वह निर्द्वन्द्व होकर सभी पापों से मुक्ति प्राप्त करता है। यह मंगलों का भी मंगलदायक सर्वोत्तम तीर्थ है। इसकी बराबरी गंगा के अतिरिक्त दूसरी कोई नदी नहीं कर सकती। इसके स्मरण और स्पर्श से ही मनुष्य निष्पाप हो जाता है। यहाँ हर महीने की पूर्णिमा को स्वरांजलि सेवा संस्थान द्वारा नारायणी गंडकी की महाआरती पर्यावरण संरक्षण संवर्धन, प्राकृतिक धरोहरों की रक्षा व विश्व शांति के लिए की जाती रही है।

नारायणी गंडकी पर एकल त्रिवेणी घाट संगम

त्रिवेणी मेला माघ मास अमावस्या (माघ संक्रांति, जनवरी) के दिन 'त्रिवेणी घाट' पर (बगहा–2 प्रखण्ड के अन्तर्गत वाल्मीकि नगर से 2 किलोमीटर उत्तर–पूर्व) लगता है। यह मेला तीन नदियों यथा गण्डक, सोनहा तथा पंचनद के पवित्र संगम पर आयोजित होने के कारण धार्मिक रूप से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। इस मेले में हजारों थारू तथा गैर थारू श्रद्धालु दूर–दराज से आकर पवित्र संगम 'त्रिवेणी घाट' में स्नान करते हैं। नदी तट पर रंग–बिरंगी दुकानें सजती हैं। यह मेला सिर्फ एक दिन के लिए लगता है। इसके प्रति लोगों की आस्था का अंदाजा इस बात से भी लगता है कि भीषण जाड़े की ऋतु में भी दूर–दराज से लोग ट्रैक्टर–ट्राली, बसों तथा निजी सवारियों से कांवर लिये आते हैं तथा संगम पर स्नान कर भगवान भोलेनाथ का जलाभिषेक करते हैं। इस दिन थरूहट क्षेत्र का दृश्य देखते ही बनता है। लोग बैल गाड़ी तथा बैलों को सुन्दर रूप से सजाते हैं। बैलों को साफ–सुथरा कर उनके सींगों में तेल लगाकर सिंदूर से टीका देते हैं तथा गले पर घुंघरु की माला पहना देते हैं। बच्चे–बूढ़े, पुरुष व महिलाएं शान से गाड़ी पर बैठकर मेले का आनन्द लेने के लिए प्रस्थान करते हैं। अपने साथ आनन्दी का भूजा तथा चोखा या भुजिया ले जाते हैं। मेले में सबसे पहले त्रिवेणी में स्नान करते हैं, शिव जी को जल चढ़ाकर आशीर्वाद लेते हैं, जलेबी खरीदकर बच्चों के साथ भूजा का रसास्वादन करते हैं और तब निकल पड़ते हैं मेले का आनन्द लेने।

स्नान के बाद श्रद्धालु यहाँ पूजा–अर्चना करते हैं। संगम पर ही नेपाल में सप्तेश्वर महादेव का मंदिर है। इस मंदिर के बारे में कहा जाता है कि यह लगभग पाँच सौ वर्ष पुराना है। मेले के अवसर पर देसी–विदेशी दुर्लभ वस्तुओं के क्रय–विक्रय के कारण यहाँ बहुत ही चहल–पहल रहती है। इसके अलावा नौटंकी, सर्कस, थिएटर आदि मनोरंजन के अन्य साधनों की भी व्यवस्था रहती है।

त्रिवेणी के पास तमसा नदी है। तमसा के किनारे महर्षि वाल्मीकि का आश्रम है। आश्रम से सटी सीता की कुटिया है। प्राचीनकाल से ही त्रिवेणी में माघ अमावस्या को महर्षि का जन्मोत्सव मनाया जाता रहा है।

मेले के लिए जाते थारू

त्रिवेणी संगम तट पर एक अति प्राचीन महाकालेश्वर मंदिर है। मंदिर में विद्यमान शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह मंदिर लगभग 150 वर्ष पूर्व चम्पकारण्य देश के नरेश उग्र सिंह के वंशज शिवभक्त महाराज श्री नवलकिशोर द्वारा बनवाया गया है। आज यह मंदिर जीर्णशीर्ण अवस्था में है।

महाकालेश्वर मंदिर

महाकालेश्वर मंदिर से आधा किलोमीटर दक्षिण तथा वाल्मीकि नगर से 2 किलोमीटर उत्तर–पूर्व में एक और प्राचीन मंदिर है। यह भव्य मंदिर जटाशंकर महादेव के नाम से जाना जाता है। मान्यता है कि यहाँ शिवलिंग स्वतः जागृत हुआ था। इस मंदिर की देखभाल होने के कारण सैकड़ों–हजारों वर्ष पुराना होने के बावजूद अभी भी यह अच्छी स्थिति में है। यह मंदिर

वाल्मीकि नगर और वाल्मीकि आश्रम के बीच में सघन जंगल के बीच अवस्थित पाषाण निर्मित है। यह मंदिर पौराणिक भारतीय कला एवं संस्कृति की गुणगाथा का गान कर रहा है। इस प्राचीन मंदिर का निर्माण शक कबीले आल्हा–उदल के पूर्वजों में से एक शिवभक्त जाशर ने कराया था।

जटाशंकर महादेव मंदिर

पतित पावनी त्रिवेणी संगम में स्नान कर पवित्र जल लिए भक्तगण भक्त वत्सल भगवान भोलेनाथ जटाशंकर को अर्पित करते हैं। प्रत्येक अमावस्या तथा पूर्णमासी को भी भक्तगण बड़ी संख्या में भोले बाबा पर जल चढ़ाते हैं।

जटाशंकर मंदिर से करीब एक किलोमीटर दक्षिण तथा वाल्मीकि नगर गोल चौक से भी एक किलोमीटर दक्षिण–पूर्व स्थित विख्यात माँ नरदेवी का मंदिर है। यह मंदिर यद्यपि सुनसान जंगल से घिरा हुआ है किन्तु अपनी शक्ति के कारण भक्तगणों के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। पहले यहाँ फूस का ही छोटा घर हुआ करता था परन्तु आज यहाँ पर माँ का सुन्दर मंदिर बन गया है। ऐसी मान्यता है कि देवर्षि नारद ने दस्युराज रत्नाकर द्वारा पकड़े जाने पर अपनी प्राण रक्षा के लिए जगत जननी दुर्गा का आह्वान किया था और यहीं देवी ने नररूप धारण कर नारद की रक्षा की थी। नर रूप में देवी के अवतरण के कारण ही यह स्थान 'नरदेवी' कहलाता है। चैत्र मास की नवमी को यहाँ मेला लगता है।

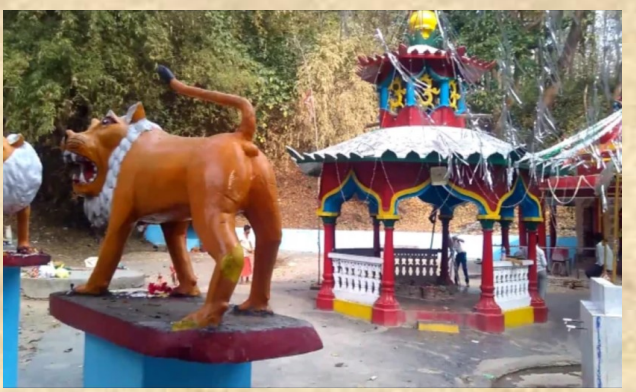

नर देवी का मंदिर

त्रिवेणी की नदियों के संगम में स्नान करने से अध्यात्म प्राप्ति के साथ साथ मानसिक शांति और सुकून भी प्राप्त होता है। इस स्थल के आस–पास कई पौराणिक और ऐतिहासिक महत्व के मंदिर हैं जो कई ऐतिहासिक राज छुपाए हुए हैं।

****

आध्यात्मिकता के लाभ

जिस प्रकार अपने शारीरिक स्वास्थ्य का ख्याल रखना महत्वपूर्ण है, वैसे ही मानसिक स्वास्थ्य भी महत्वपूर्ण है। आज के इस नकारात्मक माहौल में अपने अंदर की शांति को बनाए रखना बहुत जरूरी है और यही काम अध्यात्म करता है और यही हमारे जीवन को एक नया अर्थ देता है। आध्यात्मिकता का किसी धर्म, सम्प्रदाय या मत से कोई संबंध नहीं है। आध्यात्मिक होने का मतलब है भौतिकता से परे जीवन का अनुभव कर पाना। अगर आप सृष्टि के सभी प्राणियों में भी उसी परमसत्ता के अंश को देखते हैं तो आप आध्यात्मिक हैं। अध्यात्म का पहला लाभ यह है कि यह हमें शरीर, मन और अहंकार के दुःखों से मुक्ति दिलाने में सक्षम बनाता है। हमें अहसास होता है कि हम क्रोध, घृणा, प्रतिशोध और ईर्ष्या की भावना से मुक्त हो रहे हैं। हम स्वयं को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते हैं। हमें अपने भीतर परमात्म शक्ति का अनुभव होने लगता है और साथ ही शारीरिक और मानसिक रोगों व कष्टों से निजात मिलती है। इसलिए जन्म–मरण के चक्र से आजाद होने के लिए अध्यात्म ही एक समाधान है।

पूर्वोत्तर का राज्य त्रिपुरा और उसका सांस्कृतिक इतिहास

इकबाल अहमद,
परामर्शदाता
संस्कृति मंत्रालय, नई दिल्ली

हमारे देश का त्रिपुरा राज्य कला और संस्कृति के क्षेत्र में एक उत्कृष्ट स्थान रखता है। यह राज्य एक पर्वतीय स्थल है जहाँ पर 19 जनजातियां निवास करती हैं। 13वीं शताब्दी के दौरान त्रिपुरा पर माणिक्य राजवंश का शासन था। 17वीं शताब्दी में यह मुगलों के अधीन हो गया। त्रिपुरा के सबसे महान माणिक्य शासक वीरचंद्र माणिक्य बहादुर थे। उन्हें काव्य कला और संगीत में निपुणता प्राप्त थी। त्रिपुरा 15 अक्टूबर, 1949 को विधिवत रूप में भारत का हिस्सा बना।

त्रिपुरा सुंदरी मंदिर

हिन्दुओं की शक्तिपीठों में से एक शक्तिशाली दिव्य शक्ति का प्रतीक मां त्रिपुरा सुंदरी देवी मंदिर है। यह त्रिपुरा स्थित बांसवारा से लगभग 20 कि.मी. दूर स्थित है। मंदिर के भीतर 18 हाथों से बनी एक काले रंग की आकर्षक प्रतिमा है। देवी की सवारी शेर है। यह स्थान समस्त दिव्य शक्तियों का प्रतीक माना जाता है।

त्रिपुरा अपने प्राकृतिक सौन्दर्य और आकर्षक स्थलों के कारण संपूर्ण विश्व के पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित करता है। यहाँ पर विभिन्न भाषा बोलने वाले लोग रहते हैं। यहाँ की रंगीन वेशभूषा, बांस के कलात्मक उत्पाद और स्वादिष्ट भोजन सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

त्रिपुरा के दर्शनीय स्थलों में से उज्जयंत पैलेस एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पहले यह स्थान एक

उज्जयंत पैलेस

राजशाही स्थान था जो त्रिपुरा की राजधानी अगरतला के आसपास स्थित है। नोबेल पुरस्कार विजेता और देश की महान हस्ती गुरु रवीन्द्रनाथ टैगोर लगभग प्रत्येक वर्ष इस महल को देखने जाते थे और वहाँ ठहरते थे। उन्होंने ही इस महल को उज्जयंत पैलेस का नाम दिया। अब इस महल को एक संग्रहालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। इस महल में कई हिन्दू

मंदिर हैं जो विभिन्न हिन्दू देवताओं, लक्ष्मी नारायण, उमा महेश्वरी, महाकाली और जगन्नाथ को समर्पित हैं।

उज्जयंत पैलेस पूर्वोत्तर भारत के संग्रहालयों में से एक है। यह संग्रहालय पूर्वोत्तर भारत में रहने वाले विभिन्न समुदायों के रीति–रिवाजों, प्रथाओं, कलाओं, संस्कृति, परम्पराओं और शिल्पकलाओं को प्रदर्शित करता है।

नीरमहल या 'द लेक पैलेस ऑफ त्रिपुरा' संपूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में सबसे बड़ा महल है। यह महल त्रिपुरा के प्रसिद्ध शासक वीर विक्रम किशोर माणिक्य बहादुर के महान प्रयासों के कारण अस्तित्व में आया। इसकी अद्भुत वास्तुकला त्रिपुरा राज्य की महान संस्कृति को अभिव्यक्त करती है। नीरमहल में शाम के समय 'लाइट एंड साउंड' कार्यक्रम भी दिखाया जाता है। महल में प्रतिवर्ष जलोत्सव भी संचालित किया जाता है। यहाँ की नौका दौड़ में दूर–दूर से लोग हिस्सा लेने के लिए आते हैं। यहाँ महल के पास रुद्रसागर नाम की एक झील है। उसमें नाव द्वारा यात्रा करके आप महल तक पहुंच सकते हैं।

नीरमहल

किए गए अनुसंधान कार्यों से पता चला है कि प्राचीन काल में इस स्थान पर बौद्ध लोगों का निवास हुआ करता था। यह राज्य कई बौद्ध शासकों के अधीन रहा और उन्होंने इस राज्य पर बौद्ध संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी, तथापि दुर्भाग्यवश 16वीं शताब्दी के दौरान यहाँ के बौद्ध शासकों को पराजय का सामना करना पड़ा और बौद्ध धर्म यहाँ से पूरी तरह समाप्त हो गया, लेकिन 17वीं शताब्दी में यहाँ बौद्ध धर्म का पुनरुद्धार हुआ और यहाँ पर बौद्ध अवशेष बौद्ध धर्म की निशानी के रूप में मौजूद हैं।

त्रिपुरा की राजधानी अगरतला में स्थित जगन्नाथ मंदिर की छठा देखते ही जान पड़ती है। मंदिर में प्रतिष्ठापित भगवान जगन्नाथ की प्रतिमा को ओडिशा के जगन्नाथ मंदिर के माध्यम से प्राप्त किया गया था। मंदिर की वास्तुकला हेमपन्थी और अरबी वास्तुकला का सम्मिश्रण है। मंदिर की आंतरिक संरचना सुदृण हिंदू शैली को प्रदर्शित करती है। मंदिर के स्तंभों और दीवारों पर भगवान कृष्ण की कथाओं को चित्र

जगन्नाथ मंदिर

रूपों में प्रस्तुत किया गया है। अगरतला नगर के बीचों–बीच स्थित त्रिपुरा राज्य संग्रहालय त्रिपुरा के गौरवशाली अतीत को दर्शाता है। संग्रहालय में बौद्ध प्रतिमाओं, हस्तशिल्प कलाकृतियों और अन्य दुर्लभ

वस्तुओं का एक विशाल भंडार मौजूद है जो त्रिपुरा के वैभवशाली इतिहास को चित्रांकित करता है।

कुंजभवन का निर्माण सन् 1917 में महाराजा किशोर माणिक्य बहादुर ने करवाया था। सन् 1926 में रवीन्द्रनाथ टैगोर त्रिपुरा गए थे तो वे कुंजभवन में ही ठहरे थे। फिलहाल इसका इस्तेमाल राजभवन के रूप में हो रहा है।

बृह्माकुंड त्रिपुरा का एक प्रसिद्ध पर्यटन स्थल है। यहाँ पर प्रत्येक वर्ष मार्च, अप्रैल और नवंबर में मेलों का आयोजन होता है। कमला सागर एक बहुत ही सुंदर और विशाल झील है। इसी के पास एक पहाड़ी पर माता महाकाली का मंदिर भी है। यहाँ प्रत्येक वर्ष अक्टूबर माह में मेले का आयोजन होता है। किसी भी स्थान की संस्कृति वहाँ के नृत्य और संगीत का उल्लेख किए बिना अधूरी रहती है। त्रिपुरा में सुमुई नाम का एक वाद्य यंत्र बहुत प्रसिद्ध है। यह एक प्रकार की बांसुरी होती है। ढोल की तरह बजाए जाने वाले वाद्य यंत्र को खंम कहते हैं। यहाँ के अन्य वाद्य यंत्रों में सांरिडा और चोंगपाएंग प्रमुख हैं। त्रिपुरा की अलग अलग जनजातियों के अपने अपने लोकगीत और नृत्य हैं जो शादियों, त्योहारों और धार्मिक संस्कारों के अवसर पर प्रस्तुत किए जाते हैं। त्रिपुरा के धार्मिक नृत्य को गरिया नृत्य कहते हैं। त्रिपुरा में रियांग जनजाति के लोग अपने होजगिरि नृत्य के लिए प्रसिद्ध हैं। यह नृत्य युवा कन्याओं की मातृत्व परिकल्पना पर आधारित होता है। यहाँ पर लीबांग नृत्य त्रिपुरी जनजाति, बिझू नृत्य चाक जनजाति, वागला नृत्य गारो जनजाति, हक नृत्य कुकी जनजाति और ओवा नृत्य भोंग जनजाति से संबंधित है जो यहाँ की विविधता में एकता को दर्शाता है।

त्रिपुरा में हिन्दू धर्म का प्रभाव है। इसलिए यहाँ अधिकतर वही त्योहार मनाए जाते हैं जिनका आयोजन शेष भारत में होता है। त्रिपुरा के प्रमुख त्योहारों में दशहरे के अवसर पर की जाने वाली दुर्गा पूजा को विशेष स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त, यहाँ खर्ची पूजा, दिवाली, डोल जात्रा, पौष संक्रांति, अशोकाष्टमी, बुद्ध जयंती, ईद, क्रिसमस और नववर्ष के समारोह बड़ी धूम धाम से मनाए जाते हैं। आदिवासी त्योहारों गरिया, केर गंगा और गजन उत्सव को भी प्रमुखता प्राप्त है। अशोक अष्टमी के दौरान उन्नोकोटी में विशेष क्रियाओं का आयोजन किया जाता है। दूसरी और पुराने अगरतला में चौदह देवी मंदिर अपनी खर्ची पूजा के लिए प्रसिद्ध हैं। पौष संक्रांति के अवसर पर तीर्थमुल का आयोजन भी लोगों को मंत्रमुग्ध करता है।

त्रिपुरा में पुरुष के पारम्परिक लिबास में रिकुतु गाचा के नाम से विदित एक तौलिया और कुबै नाम की एक कमीज होती है। गर्मी के मौसम के दौरान त्रिपुरा के पुरुष अपने सिर पर पगड़ी बांधते हैं। जहाँ तक महिलाओं के पहनावे का संबंध है, वहाँ त्रिपुरा की महिलाओं का परिधान एक बड़े कपड़े जैसा होता है जिसे वे अपनी कमर से लेकर घुटनों तक लपेट लेती हैं। इस कपड़े पर बड़ी आकर्षक कढ़ाई होती है जिसे खाक्लू कहा जाता है। यहाँ की महिलाएँ सिक्कों और मोतियों से बने हार पहनती हैं।

चूंकि त्रिपुरा बंगलादेश की सीमा से लगा हुआ है इसलिए यहाँ के खान–पान में बंगलादेशी भोजन का सम्मिश्रण देखा जा सकता है। यहाँ के अधिकांश लोग मछली और चावल खाते हैं। मुई बोरोक त्रिपुरा के अत्यधिक पसंदीदा भोजन में शामिल है।

भील, भूटिया, चायल, चकमा, गारो, हलम, जमातिया, खासिया, कूकी, लेप्चा, लुशाई, मोग, मुंडा, नोआतिया, ओरंग, रींग, संथाल, त्रिपुरी और उचुई जनजातियां त्रिपुरा में निवास करती हैं जिनमें त्रिपुरी, रियांग, जमातिया, चकमा, हलाम, नोआतिया प्रमुख जनजातियां हैं। ये जनजातियां मुख्य रूप में अपनी आजीविका कृषि से प्राप्त करती हैं।

त्रिपुरा के दक्षिणी–पूर्वी पर्वतीय क्षेत्र में चटगांव के आसपास चकमा नाम की जनजाति रहती है। चकमा लोग बुनाई, कढ़ाई, मछली का शिकार, सब्जी की काश्तकारी, पशु पालन और टोकरी बुनाई जैसे कार्य करते हैं। इन लोगों की भाषा बंगाली भाषा से बहुत मिलती–जुलती है। ये लोग बौद्ध धर्म में विश्वास रखते हैं। त्रिपुरा की रियांग नामक जनजाति चटगांव पर्वतीय क्षेत्र में रहती है। इनकी आजीविका का प्रमुख साधन खेतीबाड़ी है। यहाँ रहने वाली त्रिपुरी जनजाति विश्व की सबसे पुरानी जनजातियों में से एक है। इस जनजाति के लोग त्रिपुरा की कुल आबादी का लगभग 50 प्रतिशत हिस्सा हैं।

बताया जाता है कि त्रिपुरा की मोग जनजाति अरकान, बर्मी और चीनी कबीलों का मिला–जुला सम्मिश्रण है। यह जनजाति मुख्य रूप से बौद्ध धर्म को मानती है। कृषि इनका प्रमुख व्यवसाय है। त्रिपुरा की हलाम जनजाति को कुकी जनजाति का हिस्सा माना जाता है। यह जनजाति वैष्णव पंथ में विश्वास रखती है। यहाँ की मुरासिन जनजाति मृत पशुओं के सींगों के प्रति विशेष लगाव रखती है। पूर्व में यह जनजाति त्रिपुरा की सरकारी सेना का एक हिस्सा थी। भील जनजाति भारत की सबसे पुरानी जनजातियों में से एक है। यह जनजाति चाय के बागानों में काम करती है। यह जनजाति हिन्दू धर्म को मानती है। त्रिपुरा में रहने वाली भूटिया जनजाति हिमालयी जनजाति है।

*****

प्रेरक प्रसंग

अल्बर्ट आइंस्टीन : संगति का महत्व।

एक दिन हमेशा की तरह अल्बर्ट आइंस्टीन किसी विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने जा रहे थे। तभी थोड़े मजाकिया भाव में उनके ड्राइवर ने कहा, 'सर आप जो भी व्याख्यान देते हैं, वे तो इतने सरल होते हैं कि कोई भी एक बार सुनकर उसे स्वयं दे सकता है।'

संयोग से उस दिन अल्बर्ट आइंस्टीन एक ऐसे विश्वविद्यालय में जा रहे थे जहां के प्रोफेसर और छात्र उनका नाम तो जानते थे लेकिन उन्हें कभी सामने नहीं देखा था। इस बात का फायदा उठाते हुए आइंस्टीन ने अपने ड्राइवर से कहा –'यदि तुम्हें मेरी तरह भौतिक विज्ञान के इस विषय पर व्याख्यान देना आसान लगता है तो आज मैं ड्राइवर बन जाता हूँ और तुम मेरी जगह व्याख्यान दो।' ड्राइवर को आइंस्टीन की इस बार पर थोड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन फिर भी उसने इसके लिए हाँ कह दिया। दोनों ने अपने कपड़ों की अदला–बदली की और विश्वविद्यालय पहुंच गए। वहां पहुंचकर दोनों गाड़ी से बाहर निकले और ड्राइवर ने मंच पर जाकर व्याख्यान देना चालू कर दिया। उसने बिना पढ़े हुए पूरा व्याख्यान दे दिया।

हाल में उपस्थित बड़े–बड़े प्रोफेसरों को भी यह आभास नहीं हुआ कि मंच पर व्याख्यान दे रहा व्यक्ति आइंस्टीन नहीं, बल्कि कोई और है। व्याख्यान समाप्त होने के पश्चात् एक प्रोफेसर ने आइंस्टाइन बने ड्राइवर से एक प्रश्न पूछा तो उसने बड़ी चतुराई से कहा, ''भौतिकी का यह प्रश्न तो इतना आसान है कि इसका उत्तर तो मेरा ड्राइवर भी दे देगा। इसके बाद प्रोफेसरों के सारे प्रश्नों के जवाब ड्राइवर के कपड़े पहने बैठे अल्बर्ट आइंस्टाइन ने दिए। अंत में सवाल–जवाब का क्रम जब समाप्त हुआ और लौटने का वक्त हुआ तो आइंस्टीन ने सभी को यह बताया कि आज यहां व्याख्यान देने वाला उनकी कार का ड्राइवर था। यह सुनकर सभी के होश उड़ गए।

भौतिकी के जिस सिद्धांत को बड़े बड़े वैज्ञानिक सरलता से नहीं समझा पाते, उसे दुनिया के एक महान वैज्ञानिक के साथ रहने वाले एक ड्राइवर ने इतनी आसानी से समझा दिया था।

भारतीय भाषाओं की अस्मिता एवं प्रासंगिक सौहार्दता

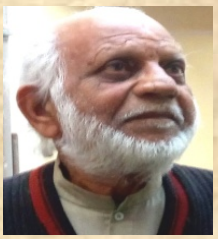

डॉ. राजेन्द्र मिलन,
मिलन मंजरी,
आजाद नगर, आगरा।

भारतीय भाषाओं की जननी संस्कृत है और सभी भाषाओं का आविर्भाव संस्कृत से ही हुआ है। अतः विभिन्न शब्दों के उच्चारण या लिपि में कुछ विभेद दृष्टिगत होते हैं, किंतु उनकी शिराओं में एक ही रक्त प्रवाह केंद्र बिंदु है। एक हिंदी भाषी जब अपनी मातृभाषा या उपभाषा को सुनता है तो उसके अंतरस्थल में एक अपनत्व का बोध प्रस्फुटित होता है। ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, पंजाबी, तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम आदि के उच्चारण में कहीं न कहीं हिंदी से समानता का आभास होता है। जब इनके स्रोत और विकास में हमारी सनातनी संस्कृति समाविष्ट है तो फिर इसमें प्रेम, श्रद्धा, लगाव और संभावनाओं का सामंजस्य शाश्वत है। सनातन धर्म या संस्कृति अजन्मा है, और जिसका जन्म नहीं होता उसकी मृत्यु भी नहीं होती है। भारतीय भाषाओं का भरण–पोषण हमारी सनातन कला की छत्रछाया में पनपा पसरा है। उदारता पूर्वक तथा विस्तार से देखें तो भारतीय भाषाओं का आविर्भाव भी संस्कृत भाषा के प्रभाव का सूचक है। भाषा विज्ञान के विशेषज्ञों ने अपनी शोध प्रक्रिया से ऐसे कई साक्ष्य प्रस्तुत किए हैं।

यहां मैं हिंदी के संबंध में एक रोचक उद्धरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ –– प्रमुख लेखिका अमृता प्रीतम तथा सलमान रश्दी के वार्तालाप से संबंधित है –रश्दी साहब ने पूछा– 'आपकी हिंदी भाषा में ऐसी क्या विशेषता है जो आप इसकी विश्व भाषा के रूप में कल्पना करती हैं? इस पर अमृता प्रीतम ने कुछ देर मनन करने के बाद कहा कि आप अंग्रेजी के विद्वान लेखक हैं। हिंदी भाषा के विराट साहित्य से आपका परिचय नहीं है, लेकिन मैं आपको एक अभी प्रकाशित पुस्तक कमलेश्वर रचित कृति 'कितने पाकिस्तान' पढ़ने के लिए कहूंगी, जिसका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ है। अंग्रेजी में भी संस्करण प्रकाशित हो चुका है। अंग्रेजी में आप पढ़ सकते हैं। सलमान रश्दी साहब ने उस किताब के अंग्रेजी अनुवाद को पढ़कर कहा था कि निःसंदेह अन्य किसी भाषा में हिंदी की इस किताब की मनमोहक शिल्प–शैली और सम्मोहित विषय भाषा तथा 5000 वर्ष का दीर्घकालिक प्रासंगिक विषय मैंने अन्य किसी भाषा में नहीं पढ़ा है। कमलेश्वर की संकल्पना की रोचकता ने इतना प्रभावित किया कि रोज़मर्रा के टाइम टेबिल में मुझे बदलाव करके पुस्तक को आद्योपांत पढ़ना ही पड़ा। अमृता जी ने गर्वोक्ति से कहा कि आपने अनुवाद पढा है,काश हिंदी में पढ़ते तो पता चलता कि हिंदी साहित्य की अतुल्य–अनुपम –अनूठी यह कृति ही नहीं, बल्कि दिनकर जी की 'संस्कृति के चार अध्याय,' 'रांगेय राघव का मुर्दों का टीला' आदि जैसी पुस्तकों से हिंदी का भंडार भरा पड़ा है।'

संविधान की आठवीं अनुसूची में हिंदी सहित 22 मुख्य भाषाओं का उल्लेख किया गया है। शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के लिए इन भाषाओं के पूर्ण विकास हेतु सामूहिक एवं समुचित उपाय करने का भी निर्देश है। इसमें इन सभी भाषाओं के लिए साथ–साथ विकास हेतु उपाय दिए गए हैं। शिक्षा विभाग, भारत सरकार हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं की प्रगति हेतु निरंतर

प्रयत्नशील है। यह भी सर्वविदित है कि हिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी एवं अंग्रेजी के अतिरिक्त, एक आधुनिक भारतीय भाषा, दक्षिण भारत की भाषाओं में से किसी एक पर गौर करते हुए हिंदी भाषी क्षेत्रों में प्रादेशिक भाषाओं एवं अंग्रेजी के साथ –साथ हिंदी के अध्ययन के लिए उस सूत्र के अनुसार प्रबंध भी किया गया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार भारतीय भाषाओं में हिंदी का विशेष ध्यान दिया गया है। मैं आपका ध्यान एक विशेष घटना की ओर आकर्षित करना चाहता हूं। हिंदी कवि सम्मेलन के लिए पोर्टब्लेयर जाते हुए चेन्नई में हिंदी कवि 'ईश्वर करुण' हमें तमिलनाडु अकादेमी ले गए। वहां हिंदी के छात्र–छात्राओं ने हमारी हिन्दी कविताएं सुनीं और सुनाईं, अतः अहिंदी भारतीय क्षेत्रों में हिंदी के प्रति मनोयोग से विकास का हमें सुखद अनुभव हुआ।

आधुनिक समाज से पहले हमारा प्रयास विगत चार–पांच सदियों का तुलनात्मक दिग्दर्शन व्यक्त करना तथा तुलसीकृत रामचरितमानस से लेकर आज के अधुना समाज का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा परिवर्तन का उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः तुलसी कालीन समाज और आधुनिक समाज में धीरे धीरे जो परिवर्तन हुआ है उस पर संक्षिप्त प्रतिक्रिया स्वरूप विचार करेंगे। ज्ञातव्य है कि भारतीय समाज का अतीत उस समय स्वर्ण काल का आदर्शोन्मुख युग था। सौहार्द, परोपकार, सदवृत्तियों का संगम, सुकून, शांति का पारस्परिक व्यवहार और सहानुभूति का आधिक्य था। चोरी, दगा, फरेब, लूटमार, बलात्कार, भ्रष्टाचार, दहेज, भ्रूणहत्या, मारकाट जैसी दुर्घटनाएं कभी–कभार सुनने –देखने को मिल जाएं तो ऐसे लोगों को तत्काल दंड दिया जाना सामाजिक प्राथमिकता थी। शुद्ध जल –भोजन से आतिथ्य सत्कार किए जाने की प्रथा थी। विशुद्ध स्वच्छ पर्यावरण निष्कंटक पर्यटन, व्यापार, आवागमन आदि भय रहित एवं सुविधापूर्ण था। निःस्वार्थ सेवा भावना, धार्मिक सद्भावना, सहिष्णुता, परहितार्थ, परित्याग जैसी मानवीय वृत्तियाँ प्रचलित थीं। उस समय के कबीर के विचारों में हिंदू–मुस्लिम समन्वय की भावना के साथ समाज सुधार के लिए डांट फटकार भी अनुकरणीय रही। स्वामी विवेकानंद जो हिंदुत्व के प्रबल समर्थक कहे जाते हैं, उनके मन में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। परमहंस रामकृष्ण (विवेकानंद जी के गुरु) ने तो 6 महीने तक विधिवत इस्लाम की साधना स्वयं मुसलमान बनकर की थी। विवेकानंद के एक पत्र में भी स्पष्ट है–'हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि दो धर्म, हिंदुत्व और इस्लाम मिलकर एक हो जाएं। वेदांती मस्जिद और इस्लामी शरीर के सहयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।'

उक्त उद्धरण देने का आशय यह है कि आगे जाकर इसी धर्म को लेकर राजनीति में जो गंदगी आई, उससे आधुनिक समाज काफी त्रस्त हुआ है। इसी सिलसिले में धर्म और राजनीति के चिंतक मेरे सहयात्री स्वर्गीय योगेंद्र योगी राज ने अपनी पुस्तक धर्म और राजनीति में विक्षुब्ध मन से लिखा भी है ––

धर्मच्युत समाज की एकता, अखंडता, आत्म संयम, आत्मबल तथा आत्मोत्सर्ग की भावना लगभग समाप्त हो जाती है, मृत प्राय बन जाती है या न्यूनतम हो जाती है। शासक –प्रशासक, स्वार्थी, भोगी, नृशंस एवं अत्याचारी हो जाते हैं। वाद प्रेरित राष्ट्र टुकडों में बंट जाता है, लोग मैं और मेरे के लिए जीने लगते हैं। पर्यावरण दूषित हो जाता है, वनस्पतियां अपना (रस) स्वाद छोड़ देती हैं, वन्यजीवों के स्वभाव परिवर्तित हो जाते हैं, औषधियों का ओज (सार) नष्ट हो जाता है। नवोद्भव रोगों का बाहुल्य हो जाता है। प्राकृतिक आपदाएं अनियंत्रित हो जाती हैं। असमय अनावश्यक काम–क्रोध, मद, हिंसा, लूटपाट और संग्रहादि की दुष्प्रवृत्ति जाग उठती हैं।'

भारत की स्वतंत्रता के 75 वें वर्ष को 'अमृत महोत्सव' के रूप में मनाया जा रहा है, लेकिन एक बात जरूर कही जा सकती है कि हमारे राष्ट्र की बहुप्रचारित हिंदी आज भी राष्ट्रभाषा के पद पर शोभित नहीं हो पाई है। विश्व विश्रुत भाषा हिंदी अनेकानेक देशों में बोली ,समझी और पढ़ी जाती है। वैसे हमें अंग्रेजी के वर्चस्व से कोई आपत्ति नहीं है, किंतु अंग्रेजी भाषा हमारी हिंदी की सहयोगी भाषाओं को निगलती जा रही है, यह बड़ी शोचनीय स्थिति है। सभी जानते हैं कि हिंदी भाषा के अंतर्गत ब्रज भाषा, मैथिली, अवधी, भोजपुरी, बंगाली, राजस्थानी आदि भाषाएं समाहित हैं और इन्हीं के आधार पर हमारे हिंदी साहित्य की नींव पड़ी है।

ज्ञातव्य है कि यदि हिंदी साहित्य से ब्रज भाषा के साहित्य को पृथक कर दिया जाए तो हिंदी साहित्य अधकचरा रह जायेगा। मुझे मैथिली साहित्य को हिंदी साहित्य से विलग किए जाने पर बेहद दुःख पहुंचा और अब भोजपुरी को भी हिंदी साहित्य से विलग किए जाने के अभियान ने तो मुझ हिंदी लेखक की आत्मा को झिंझोड़ कर रख दिया है। विशेष तौर पर संख्या के सामयिक आंकड़ों की उठा–पटक से मंडारिन भाषा से कभी आगे तो विलगता के कारण हिंदी का पिछड़ जाना मानसिक पीड़ा पहुंचाता है।

सर्वविदित है कि 30 मई, 1826 को हिंदी का पहला साप्ताहिक पत्र 'उदंत मार्तंड' कोलकाता से जुगुल किशोर शुक्ल ने प्रकाशित किया था। काका कालेलकर का कहना है कि 1930 तक बंगाल का वातावरण हिंदीमय हो गया था। नेताजी सुभाष चंद्र बोस हिंदी के प्रबल पक्षधर थे। एक भाषण में उन्होंने कहा भी था कि मैं व्यर्थ अभिमान करना नहीं चाहता, पर इतना अवश्य कहूंगा कि हिंदी साहित्य के लिए जितना कार्य बंगालियों ने किया है उतना हिंदी प्रांतों को छोड़कर किसी प्रांत के निवासियों ने शायद किया हो। निःसंदेह हमारी हिंदी भाषा के यह दो प्रमुख स्तंभ हैं, ब्रजभाषा एवं बंगाल के हिंदी रचनाकार। इधर उर्दू मिश्रित हिंदुस्तानी को भी नज़र अंदाज़ नहीं किया जा सकता। बंगाली भाषी विद्वान सुनीत कुमार चटर्जी ने हिंदी का अप्रतिम संवर्धन करते हुए उसे प्रतिष्ठा दिलवाई थी। कबीर , तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्त कवियों से हिंदी की निधि सुशोभित है।

हालांकि साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाना पूर्णतया साहित्य की व्याख्या करता हुआ प्रतीत नहीं होता। मेरे अपने विचार से साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, दीपक भी है जो हमें प्रकाश देकर प्रेम, सौहार्द और बंधुचारा जैसी मानवीय संवेदनशीलता से परिचित भी कराता है। सर्वजन हिताय ही साहित्य का मूलमंत्र है। सुसंस्कृत व्यक्ति उदरपूर्ति अथवा जीविकोपार्जन से ही संतुष्ट नहीं रह सकता। वस्तुतः उसकी अपनी सोच–चिंतन व्यक्त करने के लिए उसे लालायित करता रहता है। कुशाग्र एवं संवेदनशील व्यक्ति उसे लेखनीबद्ध कर लेते हैं, जिसमें मौलिकता, शब्द–शिल्प–सौंदर्यादि का अनूठा सामंजस्य रहता है। ऐसे लिखित एवं मौखिक अनुभवों की अभिव्यक्ति से ही साहित्य का आविर्भाव होता है। बहरहाल एक शिक्षित व्यक्ति का साहित्य भी प्रभावहीन हो सकता है तो वहीं एक अशिक्षित व्यक्ति का सृजन उच्च कोटि का साहित्य बन जाता है। सृजन शक्ति जब विकसित होती है तो साहित्य और समाज समृद्ध होते हैं।

यदि हिंदी साहित्य का अध्ययन किया जाए तो आदिकाल से आज वर्तमान काल तक का सृजन विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य से सर्वोपरि सिद्ध होगा। भारतीय साहित्यकारों ने मानवीय धरातल पर जो साहित्य निर्मित किया है ,विश्वपटल पर उसका अप्रतिम स्थान है। यदि हम यहां अन्यान्य अनेक भाषाओं की जननी संस्कृत के साहित्य को आत्मसात करें तो विदित होगा कि विश्व की अनेकानेक भाषाओं के साहित्य में संस्कृत के विपुल गौरवशाली साहित्य का प्रतिबिम्ब

परिलक्षित होता है। बौद्ध, जैन, अरब और यूरोपियन आदि भाषाओं के साहित्यकारों को पृथक पृथक कारणों से अपने अनुभवों –विचारों को तर्क की कसौटी पर शुद्धता परखने के लिए संस्कृत के आध्यात्मिक–दार्शनिक ग्रंथों को आधार मानना पड़ा है। गणित, रसायन और आयुर्वेदिक ज्ञान के लिए उन्हें संस्कृत साहित्य के पठन हेतु बाध्य होना पड़ा है।

ब्रजभाषा के बाद हिंदी खड़ी बोली का भारतेंदु काल से प्रारंभ हुआ जिसके अंतर्गत छायावाद, प्रगतिवाद आदि ही से हिंदी को विशेष संबल मिला है और वह विश्व पटल पर अनुदिन गौरवान्वित होती चली जा रही है। यह भी ज्ञातव्य है कि हिंदी को अब संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषाओं में स्थान प्राप्त हो चुका है, किंतु यह भी याद रखना होगा कि ब्रिटिश शासनकाल में आईसीएस में हिंदी को अनिवार्य कर दिया गया था। अतः अब हिंदी के रचनाकारों , विद्वानों, सेवियों और हिंदी प्रांतीय सरकारों का दायित्व है कि वे एकजुट होकर हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने को संकल्पित हों और अंग्रेजी से प्रतिरोध कर उसे रानी से दासी बनाएं।

*****

महापुरुषों के अनमोल सुविचार

'यदि आपके जीवन में जो कुछ भी है उसे देखें तो आपके पास हमेशा अधिक होगा। यदि आपके जीवन में जो नहीं है उसे देखें तो आपके पास कभी भी पर्याप्त नहीं होगा' –

– ओपरा विनफ्रे

'जब आप काम करते हैं तो ऐसे काम करें जैसे कि सब कुछ आप पर निर्भर करता है। जब आप प्रार्थना करें तो ऐसे प्रार्थना करें जैसे कि सब कुछ ईश्वर पर निर्भर है' –

– जे.आर.डी. टाटा

'हम सारे दिन कितनी बड़–बड़ करते हैं, थोड़े दिन यह ध्यान देकर देखें तब हमें मालूम होगा कि हम अपनी शक्ति को कितना व्यर्थ करते हैं। जैसे धनुष से छूटा बाण वापस नहीं आता, उसी तरह एक बार फिजूल गई हुई शक्ति फिर प्राप्त नहीं होती' –

– स्वामी विवेकानन्द

'जिस व्यक्ति में दूसरों की बुराई करने की आदत है, अक्सर वो अपने पड़ोसी में वहीं देखता है जो वह स्वयं अपने अंदर देखता है। पवित्र के लिए सब चीजें पवित्र हैं। उसी तरह नापाक के लिए सब चीजें नापाक' –

– हेश्रर

'शराबी, कामी, कंजूस, मूर्ख, अत्यन्त दरिद्री, बदनाम, बहुत बूढ़ा, सदा रोगी, सतत क्रोधी, ईश–विमुख, श्रुति–सत विरोधी, तन–पोषक, निन्दक और पापी, ये चौदह प्राणी जीते हुए भी मुर्दे के समान हैं' –

– रामायण

'अगर किसी आदमी के मन में बुरे विचार हैं तो उस पर दुःख इस तरह आता है जैसे बैल के पीछे पहिया। अगर कोई पवित्र विचारों में लीन रहता है तो उसके पीछे आनंद ठीक उसी प्रकार आता है जैसे उसका साया' –

– अज्ञात

भित्ति चित्रों की कला परम्परा

चन्द्रकांता शर्मा
अग्रवाल फार्म, मानसरोवर,
जयपुर, राजस्थान

चित्रकला के प्रति मनुष्य का प्रेम अनादि काल से रहा है। वह प्रारंभिक युग में पेड़–पत्तों तथा पत्थरों पर आडी–तिरछी रेखाओं से आकार उकेरा करता था। शनैः शनैः मानव समाज के विकास ने भी चित्रकला को नये–नये मोड़ दिये तथा वह बहुत ही चित्ताकर्षक रूप में आज हमारे बीच विद्यमान है। भारतीय चित्रकला को खास संरक्षण राजाओं के शासन काल में सर्वाधिक रूप में मिला तथा यह आज भी अक्षुण्य रूप में अनेक संग्रहालयों में पौराणिक रूप में आज भी सुरक्षित है। देश, शासन तथा सामयिक स्थितियों से हमारी चित्रकला भी अछूती नहीं रही है एवं हर काल में नये–नये रूप में परिवर्तन के साथ चलती रही है। यह चित्रकला ही है जिसमें भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिदृश्य ऐतिहासिकता के साथ परिलक्षित होता है।

राजस्थान तो कलाओं का घर है। यहां की कला सम्पदा का प्राचीनकाल तो बहुत ही अनूठा तथा सुनहरा रहा है। चित्रकला के मामले में भी यह देश का सर्वाधिक श्री सम्पन्न राज्य रहा है। भित्ति चित्रों की परम्परा वैसे तो सम्पूर्ण भारत में रही है, परन्तु राजस्थानी कला में मांडे गये भित्ति चित्रों की बात ही कुछ और है। राजस्थान में शेखावाटी संभाग में हवेलियों की दीवारों पर बनाये गये ये चित्र आज भी हमारी भित्ति चित्रकला परम्परा की अनूठी धरोहर हैं। शेखावाटी में ये भित्ति चित्र कुओं–बावड़ियों–हवेलियों तथा मंदिरों की दीवारों पर बहुत ही भव्य तथा नयनाभिराम रूप में करीब 18वीं शताब्दी से नियमित रूप से बनाये जाते रहे हैं। शेखावाटी में बनाये गये इन चित्रों के विषय भी विविध रूपी है। इनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा ऐतिहासिक विषयों की प्रमुखता दी गई है। राज्याश्रय में राजप्रासादों की दीवारें इन अलौकिक चित्रों की परम्परा से ढक दिया गया तथा आज भी वे दर्शनीय है। शेखावाटी के भित्ति चित्रों में आमेर तथा बैराठ की भित्ति चित्रकला की परम्परा को प्रमुखता मिली है। जिसमें राजपूत एवं मुगल शैली में सम्मिश्रित चित्रों में मिले, सुरापान का वातावरण, शिकार, राजप्रासादों के शयन कक्षों की दृश्यावलियां जीवंतता के साथ रंगों से बनाई गई हैं। चूंकि कछवाह राजाओं का सम्बन्ध मुगल शासकों से रहा है और खण्डेला शेखावाटी के रायसल दरबारी भी उनके करीबी थे, अतः कलाओं का आदान–प्रदान भी इन राजघरानों में सत्रहवीं शताब्दी के बाद खूब हुआ।

भित्ति चित्रों में राजा और प्रजा का अंकन

सीकर–झुन्झुनू–नवलगढ़–रामगढ़ की अनेक विशाल तथा प्रसिद्व हवेलियों की दीवारों तथा छतरियों पर जो भित्ति चित्र आज भी उपलब्ध हैं– उनमें राजसी आमोद– प्रमोद, मनोरंजक सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक परम्पराओं का मुखर अंकन तथा महाभारत एवं रामायण के अनेक कथानकों का पारम्परिक रूप में अंकित किया गया है। राव चांदसिंह की गनेडी में बनी छतरी में एक बहुत ही मार्मिक चित्रांकन हुआ है जिसमें नायक युद्व से भागकर महल में आता दिखाया गया है, तब हाडारानी ने अपना सिर काटकर थाली में रखकर पति को भिजवाया। ऐसे अनेक चित्र हैं जो यहां के रण बांकुरों की बल और बहादुरी की शोर्यगाथा का बखान करते हैं। पाबूजी द्वारा गायों की रक्षार्थ प्राणों को न्योछावर किये जाने का अंकन भी बहुत ही हृदयस्पर्शी है।

सर्वाधिक अचंभे की बात तो यह है कि ये कलाकार निपट निरक्षर होने के बाद भी समसामयिक स्थितियों को कितनी सूक्ष्मता के साथ अंकित कर सके हैं। जिन रंगों के तालमेल से यह अमिट चित्र बनाए गये हैं वह हालांकि कमोबेश मिटने लगे हैं, परन्तु अनेक स्थानों पर तो ऐसा लगता है, जैसे चित्र अभी बनाये गये हों। इनमें बेलबूटों के साथ राजा–रानियों के चित्र, राधा कृष्ण का आमोद–प्रमोद तथा संत कवियों का धर्म–दर्शन बहुत ही बारीकी के साथ सुनहरी कलम से मांडा गया है।

अनेक चित्रों में अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ भी जन सामान्य में जोश भरने के उद्देश्य से दीवारों पर चित्र बनाये गये। वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास को भी अनेक चित्रों में बताने का प्रयास किया गया है। उस समय चलने वाली रेलगाड़ियां, हवाई जहाज तथा पहनावे में आयी तब्दीलियों को उन लोक कलाकारों ने बखूबी से चित्रित किया है।

भित्ति चित्रों में हाथी और घोड़े का सुन्दर अंकन

रामगढ़ सेठों की पोद्दारों की छतरियों में राग–रागिनी तथा बारहमासा को पूरी तरह बनाया गया है। इनके बनाने में कितना समय तथा धन व्यय हुआ होगा, यह अकल्पनीय है। कला के प्रति उन लोगों का कितना रुझान, आकर्षण व रूचि थी, यह इन भित्ति चित्रों को देखने पर पता चलता है। काले एवं लाल रंगों से बने अनेक चित्रों की रागात्मकता इतनी महीन है कि आंखें खुली रह जाती है। इन दीवारों को देखने अनेक चित्रों में प्राचीन वीरता तथा प्रणय के प्रसंगों को कथात्मक रूप में बनाया गया है और सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह किया गया है। उस समय का रहन–सहन, खान–पान, पहनावा एवं सामाजिक संस्कृति को लोककला की उच्च परम्परा के साथ बहुत ही सुघड़ता से दीवारों पर चित्रित किया गया है।

शेखावाटी में यह परम्परा मंदिरों में भी बहुतायत से देखने को मिलती है। लगभग सभी मंदिरों में भित्ति चित्रों की अटूट कतार है जिससे ये स्थान मनोरम, दर्शनीय तथा कलात्मक रूप से नयनाभिराम बन गये हैं। इसी से लगता है कि हम किसी धार्मिक स्थल से रूबरू हैं तथा मानव मन शांति के अथाह तल में डूबने –उतरने लगता है। सालासर हनुमान के मंदिर में बने चित्रों की परम्परा को नहीं भुलाया जा सकता। यही नहीं अनेक हवेलियां ऐसी हैं। जिसके सामने का पूरा भाग भित्ति चित्रों से अटा हुआ है तथा आंतरिक कक्षों में कमरों के हिसाब से चित्रों को बनाया गया है। प्रणय

भावों में भी इन चित्रों बहुलता से बनाया गया है। ढोला मारू, हीर रांझा, जलाल–बूबना आदि अनेक प्रेमाख्यानों को कलाकारों ने बहुत ही अनुपमता के साथ बना दिया है।

शेखावाटी की भित्ति चित्रकला का स्थान बड़ा ही ऊंचा है तथा ये चित्र आज भी मुंह बोल रहे हैं। परन्तु फिर भी मौसमी थपेडों तथा उचित संरक्षण एवं रख–रखाव के अभाव में ये चित्र उखड़ रहे हैं तथा मिट

हाथों में सारंगी का सुन्दर भित्ति चित्र

रहे हैं। अनेक स्थानों पर पलस्तर उखड़ने से चित्र टूट गये हैं। शेखावाटी भित्ति चित्रों की इस अमूल्य धरोहर को बचाने की आवश्यकता है। ये हमारी अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर हैं जो सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक थाती की ऐतिहासिक गाथा अपने आप में समेटे हुए हैं। शेखावाटी का यह कलात्मक वैभव संरक्षण चाहता है, अन्यथा इसके अभाव में एक सांस्कृतिक इतिहास नष्ट हो सकता है।

राज्याश्रय में संरक्षण प्राप्त इस भित्ति चित्रकला को फिर राज्याश्रय की जरूरत आ पड़ी हैं। यदि इसे बचाने का प्रयास नहीं किया गया तो यह कला केवल याद की चीज रह जायेगी। इसे जीवंतता देना समय की मांग तथा आवश्यकता है। भारतीय चित्रकला का यह ऐसा अध्याय है जिसे हर कीमत पर संरक्षण मिलना ही चाहिए। इस काल में हमारा सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव तो सुरक्षित है ही, साथ ही शासन का उतार–चढ़ाव तथा सामाजिक परिदृश्य पूरी जीवंतता से विद्यमान हैं। शेखावाटी भित्ति चित्रकला परम्परा हमारी सर्वाधिक समृद्व कला संस्कृति है। इसे और विकसित किया जाना चाहिए।

*****

प्रेरणादायी श्लोक

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।

नास्त्युद्यमसमो वन्धुः कृत्वा यं नावसीदति।।

भावार्थ – मनुष्यों के शरीर में रहने वाला आलस्य ही उनका सबसे बड़ा शत्रु होता है। परिश्रम जैसा दूसरा (हमारा) कोई अन्य मित्र नहीं होता, क्योंकि परिश्रम करने वाला कभी भी दुःखी नहीं होता।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।

इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्चते।।

भावार्थ – जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोकर मन से उन इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।

कैवल्यं इव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम।।

भावार्थ – न मैं यह शरीर हूँ और न यह शरीर मेरा है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा निश्चित रूप से जानने वाला जीवन मुक्ति को प्राप्त करता है। वह किए हुए (भूतकाल) और न किए हुए (भविष्य के) कर्मों का स्मरण नहीं करता है।

मीणा आदिम समुदाय के विवाह गीत

हरिराम मीणा
शिवशक्ति नगर, जयपुर

भारत के प्राचीनतम आदिम समुदायों में मीणा समुदाय की गिनती होती है। इस समुदाय का संबंध सिंधु घाटी सभ्यता से है। भारत के प्राचीन आदिम समुदायों में मीणा लोगों का उल्लेख मिलता है। प्राचीन 16 महाजन पदों में मत्स्य गणराज्य भी हुआ करता था। 'मत्स्य' लोग ही आज के मीणा थे। मत्स्य जनपद की राजधानी वर्तमान विराटनगर (राजस्थान) थी। महाभारत कालीन इस गणराज्य का संदर्भ पाण्डवों के अज्ञातवास की अवधि में मिलता है, जब पाण्डवों ने वेश बदल कर मत्स्य राज्य के नरेश के यहां अज्ञातवास बिताया। राजस्थान के मीणा बाहुल्य क्षेत्रों में यह समुदाय एक शासक कौम के रूप में था जिनके राज्य जयपुर अंचल के विभिन्न हिस्सों में स्थापित थे जिनमें प्रमुख राज्य खोहगंग, ढूंढाड़, माची, न्हाण, क्यारा आदि थे। जयपुर रियासत क्षेत्र से बाहर बूंदी (उषरा मीणा), मेवात (मेव मीणा), नरेठ–झरी (अलवर), करौली (टाटू मीणा), मारवाड़ (चांदा मीणा), जवाहरगढ़ एवं शिवपुरी (मध्य प्रदेश–वमनावत मीणा) जैसे प्रमुख गणराज्य भी मीणा आदिवासियों द्वारा शासित थे। वास्तव में भारतीय इतिहास के उत्तर–प्राचीनकाल (गुप्तवंश की समाप्ति तक) के बाद के जिस कालखण्ड को अंधयुग कहा जाता है, उस दौरान एकछत्र साम्राज्य व्यवस्था टूटती है और देश में किसी एक शासक का राजनैतिक वर्चस्व विखण्डित होकर छोटे–छोटे राज्यों या गणराज्यों में विभक्त हो जाता है। यही वह दौर था जब हम उक्तानुसार मीणा जनजाति के राजनीतिक वर्चस्व को चिन्हित करते हैं। गौरवशाली अतीत के साथ मीणा समुदाय की समृद्ध मीणा समुदाय की संस्कृति भी रही है। हम यहाँ संस्कृति के लोक–गीत पक्ष पर चर्चा कर रहे हैं।

भू–मंडलीकरण के इस दौर में बहुत कुछ ऐसा कहा जा रहा है कि पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से स्थानीय संस्कृतियाँ नष्ट होती जा रही हैं। मौखिक–वाचिक परंपरा में संरक्षित लोक गीतों का भंडार बुजुर्गों के पास तो है ही और मैं बहुत संतोष के साथ यह बात कहना चाहता हूँ कि मीणा समाज का जो शिक्षारत युवा तबका है उसकी रूचि मीणा संस्कृति, खासकर लोकगीतों के प्रति उत्साहजनक है। जितने भी गीत मैं इकट्ठा किये जा रहा हूँ उनमें से अधिकांश फेसबुक जैसे सोशल मीडिया पर युवा वर्ग द्वारा पोस्ट किये जा रहे हैं। दर्जनों युवक–युवतियां हैं जिनका इस विषय से बेहद लगाव दिखाई दे रहा है, चाहे वे ग्रामीण एवं नगर–महानगरों में अध्ययनरत हैं अथवा सरकारी या निजी सेवाओं में कार्यरत हैं।

जब हम विवाह के गीतों पर चर्चा करते हैं तो विवाह की सम्पूर्ण प्रक्रिया और तदनुरूप विभिन्न रीति–रिवाजों से संबंधित गीतों का विश्लेषण करना होता है। इस प्रक्रिया का आरंभ सगाई से होता है जिसका एक गीत सवाल–ज़वाब शैली में इस तरह से है –

खां सू आयो टीको (सगाई के अर्थ में) ? थारी दादी राणी बूजै, थारी भूआ बूजै (पूछे)

'खां सू आयो टीका में रुपिया, नारेड़ (नारियल)?

अमुक गाँव सू आयो नारेड़, म्हारी दादी

खां धर्या रुपिया अर नारेड़?

कोठी में धर्या रुपिया अर पेई में धर्या नारेड़।।।'

सगाई अथवा टीके की रस्म में नारियल और रुपये का महत्त्व होता है। इन वस्तुओं को ससुराल पक्ष द्वारा लड़के अथवा लड़की की अंजुरी में रखा जाता है। महिलाएं गीत के माध्यम से दादी व बुआ की तरफ से पूछती हैं कि सगाई अथवा टीका कौन से गाँव से आया है? इसी तरह से नारियल और रुपये के बारे में पूछा जाता है। ज़वाब में उस गाँव का नाम बताया जाता है। फिर उन वस्तुओं को कहाँ रखा जाता है? ज़वाब में सबसे सुरक्षित स्थान अर्थात् कोठी (घर के भीतर मिट्टी का बना स्थान) और लोहे के बक्से का नाम लिया जाता है।

मीणा समाज में दूल्हे को बन्ना या बनड़ा एवं दुल्हन को बन्नी अथवा बनड़ी कहते हैं। लग्न गीतों में बन्ना व बन्नी के बीच संवाद अभिव्यक्त होता है :

बन्ना–'बनड़ी थारा दादाजी सू खीज्यो लगन लिखाय'

बन्नी–'राईबर मो सू कह्यो न जाय आप ई लिख भेजो'

बन्ना–'बनड़ी थारा बाबा सू खीज्यो ब्याव रचाय'

बन्ना–' राईबर मो सू कह्यो न जाय आप ई लिख भेजो'

बन्ना–'बनड़ी थारा मामा सू खीज्यो भात संजोय'

बनी–' राईबर मो सू कह्यो न जाय आप ई लिख भेजो।'

अर्थात् लग्न, विवाह और भात की बात तय करने के लिए क्रमशः दादा, बाबा और मामा से कहने का आग्रह बन्ना करता है और बन्नी शर्म के मारे उसे ज़वाब देती है कि यह सब आप ही करवाओ।

अब बारी आती है बिंदायक व कलश स्थापना की। प्रमुख गीत है–

आज बन्दायक म्हारे आया संग रिद्द सिद्द लाया

धूंध धूंधाड़ो सूंड सूंडाड़ो बन्दायक

काहे को थाड़, काहे को कलश बन्दायक

माटी को कलश बन्दायक, पीतल को थाल

चांवड़ का आखा हो बन्दायक, रोड़ी को तिलक

लीपूं, पोतूं तो कू, आसण लगाऊँ बन्दायक

म्हारे करज्यो बास बन्दायक

फिर तेल चढाने की रस्म इस गीत के साथ निभाई जाती है। अगर लड़की का विवाह है तो उसे बन्नी और लड़के का है तो उसे बन्ना संबोधित किया जाता है।

बन्नी तो कू तेल चढाऊँ म्हारी बाई जी,

लाडी तो कू तेल चढाऊँ म्हारी नणदल जी,

बन्ना तो कू तेल चढाऊँ म्हारा राजा जी।।

इसके बाद मांडा (मंडप) गाड़ने, घूड़ा (गोबर–कचरा स्थल) रस्में निभाई जाती हैं। हर रस्म के अपने गीत होते हैं जो औरतों द्वारा तब तक गाये जाते हैं जब तक कि वह रस्म विशेष पूरी नहीं हो जाती। इसी के संग हल्दी की रस्म होती है जिसके दौरान दूल्हा अथवा दुल्हन के बदन पर हल्दी का लेप किया जाता है। यह कार्य खासकर भाभी द्वारा संपन्न होता है। राजस्थान में मीणा समुदाय की ज्यादातर आबादी पूर्वी हिस्से में है। तत्पश्चात् हाड़ौती (कोटा संभाग), दक्षिणी अंचल (उदयपुर संभाग) और कुछ जनसंख्या पश्चिमी (मारवाड़) इलाके में है जिसमें विशेषकर जिला पाली व सिरोही आते हैं। दक्षिणी अंचल के प्रतापगढ़ में काफी

आबादी है। वहाँ लोक गीत परंपरा में जिस भाषा–बोली का प्रयोग किया जाता है उसे मीणा समुदाय के साथ भील लोग भी अपनाये हुए हैं। दोनों समुदायों के मध्य काफी सीमा तक सांस्कृतिक समानता पायी जाती है। यहाँ हल्दी की रस्म से ताल्लुक रखने वाला उसी अंचल का गीत प्रस्तुत हैः–

'कणी सरिका तमारे बापू हो बन्ना सा

बन्ना सा थाने बाजोटे बेवाड़े ने हल्दी करावे

कणी सरिका आपणी माता हो बन्ना सा

बन्ना सा थाने बाजोटे बेवाड़े ने हल्दी करावे

कणी सरिका जीजा सा हो

बन्ना सा थाने बाजोटे बेवाड़े ने हल्दी करावे

हल्दी करावे नी गोद में बेवाड़े

कणी सरिका आपणे बेन्या बाई बना सा

बन्ना सा थाने बाजोटे बेवाड़े ने हल्दी करावे

हल्दी करावे नी बेवाड़े

कणी सरिका'।।

इसका संक्षेप में अर्थ है कि दूल्हे को जब हल्दी की रस्म के लिए पीढ़ी (आसन) पर बैठाया जाता है तब गीत में बापू (पिता), माँ, जीजा, बहन सभी के माध्यम से 'कैसा लगता है' पूछा जाता है। हल्दी की रस्म दुल्हन के लिए भी होती है। इसके बाद दुल्हन को स्नान करवाया जाता है। यहाँ नदी में नहलवाने का चित्रण हैः–

'हाभु दरिया में झिलो होके सुकणा बैना

भया लाईबा झिलो होके सुकणा बैना

डूबी तरी ने झूलो होक सुकणा बैना

जियाजी ने राज में झूलो होके सुकणा बैना

अटे डुबो सीनियर जाईने निकलो हो सुकणा बैना

भया लाईबा झूलो होके सुकणा बैना

तमी तरी ने झूलो होके सुकणा बैना' ।।

भावार्थ है कि दरिया (नदी, नाला या तालाब) में हाभु (साबुन) घुला हुआ है। तुम्हारा भाई लाइफ बॉय साबुन लाया है। तुम डुबकी लगा लगा कर स्नान करो। यहाँ जल में डुबकी लगाओ और वहाँ सीनियर हाई स्कूल के पास निकलो।

जीवन में स्वप्न की बड़ी महिमा रही है। जब लड़की किशोर होती है तभी से विवाह की चाह उसके मन में उठने लगती है। वह अपनी संग सहेलियों से इस विषय पर चर्चा करने लगती है। स्वप्न में भी उसे ऐसे दृश्य दिखाई देते हैं। लोकगीत में उसका बाल विवाह होता है जिसका विवरण इस प्रकार है –

'सुपनो आयो ऐजी सुपनो तो आयो बालपणा का ब्याव को

कुण नै ऐजी कुण नै लिख परवाना दिया ब्याव को

नाई का नै ऐजी लाड़ो बेटी करिए सगाई की बात

बामण का नै ऐजी लिख दिया परवाना ब्याव को

कुण ऐजी कुण तो गाया मंगलाचार

कुण नै ऐजी कुण नै बांटी भर भर बेला (कटोरा) घूघरी (ज्वार को उबाल कर तैयार किया गया खाद्य)

तेरी काकी ऐजी काकी और बड़िया (ताई) नै गाया ऐ मंगलाचार

तेरी दादी नै बांटी री ये भर भर बेला घूघरी

दे नै रे बाबल मेरा, संवारी सी सीख

च्यूँ कर ऐजी, च्यूँ कर लाड़ो बेटी, मांगे संवारी सी सीख,

काइँ दुःख पायो बाबल जाणै भौम में

आई ऐरै समावै री दो की चार

जाई एक न तो समावै रे ऐ बाबल तेरी भौम में

दे नै रे ऐ नाइ का भाई नगर बुलावो

मेरी साथण (सहेलियां) आवै रे सातू जात की

खोलै ने री बक्सा री गांठ, तेरी लाड़ो बेटी जावै सासरै

काडे ने री बेस पचास, तेरी लाड़ो जा री सासरै

खोलै न री भावज मेरी बक्सारी गांठ

जे में निकड़ी आंगी एक री जे में इकसठ ठेक

दे नै ऐरै दे नै रे बाबल मेरा रथ सेती बैल

तेरी लाड़ो बेटी जा री सासरै

दे नै ऐरे भावज मेरा प्रेम पिछ्वेडा

तेरो जीजो एतो ठाड़ो या बाबल जाणै पौड़ पै

मिल ल्यो एरी मिल ल्यो ए साथण मेरी हिवड़ा झकौड़ (हृदय खोल कर)

सातू जात की औजु मिलिंगा उमर दूसरी

मिल ल्यो एरी मिल ल्यो काकी ऐ बड़िया सब

थ्यारी लाड़ो बेटी जारी सासरै

मिल ले एरी मिल लै मेरी भावज, तेरी नणदल तो जारी सासरै

तेरो घूँघट तो या रोवे री या दिलड़ो हँस रियो री

मिल लै एरी मिल लै जामण तेरी लाड़ो तो जारी सासरै'

इस गीत में नाई द्वारा सगाई करने, मंगलाचार गाने, घूघरी बाँटने और एक एक कर सभी संग सहेलियों, भाई–भाभी, ननद, पिता और अंत में माँ से मिलन व विदाई की भावुक बेला का चित्रण हुआ है।

बालविवाह संबंधी पद रूप (वितउ) में अगला यह गीत भी ध्यान खींचता है :–

'हाँ रे लौहड़ी (नाबालिग) सी को ब्याह किर्यो महतारी बैरण होगी रे

अरर पँडित पाड़े रे भमरिया लाडी सोगी रे

ऐ जी कौन जन्म को बदलो लीनो पूँछत सुता बता दे री मैया

काहे कु बाबुल बदला फाड़े

क्यूँ बिछड़ाये सखी और भैया

बेटी कू परायो धन समझे

क्यूँ जन्म दियो तूने मोय मैया

काहे कू ममता की कोख लजायी

क्यूँ बेटी से प्यारो लगे तोय भैया

हाँ जी तो छोड़े मैया बाप

तज्यो मैंने झूलो बाड़ा को (यहाँ आँगन से तात्पर्य है)

बाबूल सँग सहेल्याँ रोवे नीम गीराड़ा को

ऐ रे लोहड़ी सी ब्याह किर्यो महतारी बैरण होगी रे'

बेटी माँ की लाडली होती है, इसीलिए बाल विवाह का सारा दोष भी उसी का है। इसलिए उसी को 'बैरण' (दुश्मन) कहा गया है।

मीणा जनजाति में बहुत सारे गीत आशु सृजन का हिस्सा होते हैं। गीत गायन के क्रम में कोई भी महिला व पुरुष तत्क्षण कुछ रचकर जोड़ते रहते हैं। इन गीतों की प्रत्येक पंक्ति को स्वतंत्र रूप में देखा जा सकता है। जैसे यह पंक्ति–फेरा पड़गा गोदी में / को आवे लाडो सोदी में। बालपन के विवाह में फेरे माँ–बाप की गोदी में ही पड़ जाते हैं और लाडा यानी की दूल्हे को कुछ होश ही नहीं रहता, चूँकि वह सो जाता है।

स्वप्न की चाहत का व्यावहारिक स्वरूप इच्छा है। विवाह योग्य लड़की कैसा वर चाहती है यह उसके लिए अहम् बात है। जिस अंचल में गीत गाया जाता है उसी के अनुरूप लड़की की चाहत बताई जाती है, जैसे पूर्वी राजस्थान के महुआ क्षेत्र में बालाहेड़ी गाँव है। इस गीत में इसी गाँव को महत्वपूर्ण बना दिया गया। इस गाँव के बारे में लड़की ने कुछ अच्छा सुन लिया। वह लड़की अपनी माँ से कहती है कि माँ मेरी शादी करे तो बालाहेड़ा गांव में ही करज्यो। माँ ने पूछा क्यों? लड़की का ज़वाब है इस गीत में :–

'मम्मी पापा कूँ समझाज्यो री, ब्याह करे तो मोकू बालाहेड़ी में दीज्यो री

माँड़ में मत दीज्यो मम्मी है पानी को टोटो (कमी)

म्हां का छोरा रिक्शा हांके कोनी होय बालक–छोटो (बच्चा–बच्ची / संतान)

मेरे भैया से कह दीज्यो री ब्याह करे

डांग में मत दीज्यो मम्मी धरती ऊँची–नीची

शाम–सुबह मोय सोता–जगता खा बड़ जायगो बीछी (बिच्छू)

मेरे चाचा से कह दीज्यो री, ब्याह करे तो

जगरोटी मत दीज्यो मम्मी पानी भारो ओंडो (गहरा)

रहबा कमरो कोन्य बणावे वहाँ बणावे खोंडो (कोटड़ी)

मम्मी मेरो ख्याल कर लीज्यो री, ब्याह करे तो।।

काठैड़ मत दीज्यो मम्मी वहाँ की उल्टी रीत

वहाँ के छोरा रोजाना की खाँवें दश दश जीत

हलवा मोपे नांय बणेगो री, ब्याह करे तो।।

ढूंढाड़ मत दीज्यो मम्मी वहाँ की बोली न्याड़ी

वहाँ को धन्धो कोन्य होयगो सासू देगी गाड़ी (गाली)

मेरी किस्मत मत फुड़वाज्यो री, ब्याह करे तो ।।

भाँतर में मत दीज्यो मम्मी, इतकू भारा रोज (जंगली जानवर रोजड़ा)

बालाहेड़ी में दीज्यो मम्मी वहाँ की सी नहीं मौज

मेरी किस्मत ने चमकाज्यो री, ब्याह करे तो।।

छोई मांईं मत दीज्यो मम्मी इतकूँ करें तम्बाकू

खेतन में मैं काम करूँ पांती (हिस्सा में) लऊँ दमा कू

मेरी सेहत मत बिगड़ाज्यो री। ब्याह करे।।

बालाहेड़ी में मम्मी झकराड़ा (ग्रीष्म) में पीलू (एक फल) खा लूँ

साढ़ माह में बाणा नंदी (बाणगंगा नदी) कूद कूद मैं न्हा लूँ।'

लड़की बालाहेड़ी गाँव को छोड़कर पूर्वी राजस्थान के सभी अंचलों को नकारते हुए उनकी बुराई गिनाती है। माड़, डांग, जगरोटी, काठैड़, ढूँढाड़, भाँतर और छोई ये सब भौगोलिक नाम हैं। शादी की पूर्व संध्या की बेला में विवाह की सबसे अहम् रस्म भात भराई की संपन्न होती है। पीहर पक्ष द्वारा जो 'भात भरने' की रस्म अदा की जाती है। उसका भावनात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्व होता है। जिस औरत की संतान की शादी होती है वह अपने पीहर वालों का बेसब्री से इंतज़ार करती है। सज–धज कर आने के लिए वह

संदेश देती है–'बीरा, म्हारे रमा–झमा सू आज्यो रे / आप आज्यों अर भावज ने लारे लाज्यो रे / सिरदार भतीजा लारे लाज्यो रे / बीरा, म्हारे रमा–झमा सू आज्यो रे।।।' उल्लेखनीय है कि मीणा समुदाय की अधिकांश आबादी राजस्थान की अरावली पर्वत–श्रृंखला के इर्द गिर्द बसी हुई है। पर्वत को स्थानीय भाषा में 'डूंगर' कहा जाता है। भात से संबंधित गीत देखिए, जिसमें डूंगर अर्थात् पर्वत की तलहटी की राह बैलगाड़ी दिखाई देती है। पहाड़ की तलहटी में पत्थर–कंकड़ होते हैं। राह बड़ी कठिन होती है। गाड़ी को खींचने में बैलों को बहुत मेहनत करनी होती है। गाड़ी की रफ़्तार कम हो जाती है और वह ऊबड़ खाबड़ राह में हिचकोले खाती हुई चलती है। गाड़ी के इस कदर संचलन को आंचलिक भाषा में ढड़कना कहते हैं। दूल्हे की माँ उसे निहारती है। भावुक होकर ससुराल की अन्य महिलाओं के साथ वह गीत गाती है–

'गाडी ढड़कत आई रे, म्हारो बाबो आयो भातेयी

गाडी ढड़कत आई रे, म्हारो दादो आयो भातेयी

गाडी ढड़कत आई रे, म्हारो काको आयो भातेयी

गाडी ढड़कत आई रे, म्हारो भाई आयो भातेयी

बाबा, काईं धन ल्यायो रे, म्हारी सासू दे चे ओडम्बो

बेटी, सब धन ल्यायो रे, थारी सासू च्यूं दे ओडम्बो

दादा, काईं धन ल्यायो रे, जिठानी दे चे ओडम्बो

बेटी, सब धन ल्यायो रे, जिठानी च्यूं दे ओडम्बो

काका, काईं धन ल्यायो रे, दौरानी दे चे ओडम्बो

बेटी, सब धन ल्यायो रे, दौरानी च्यूं दे ओडम्बो

बीरा, काईं धन ल्यायो रे, नणदल दे चे ओडम्बो

भैना, सब धन ल्यायो रे, नणदल च्यूं दे ओडम्बो।।'

बाप को अक्सर दादा कहा जाता है और उसके पिता को बाबा। बाबा, दादा, काका और फिर बीरा (भाई), ये सब परिजन ही नहीं बल्कि पीहर की पूरी बस्ती के लोग होते हैं। इसमें पीहर पक्ष की सामूहिकता का बोध है। इन्हीं को संबोधित करते हुए वह पूछती है कि 'मेरे पीहर वाले भात के रूप में क्या क्या सामान लाए हैं। वह शिकायत भी करती है कि उसकी सास, जिठानी, देवरानी और ननद वगैरा सभी ओडम्बो (उलाहना) देती रही हैं कि 'कब तेरे पीहर वाले भात भरने आयेंगे और क्या क्या लायेंगे?' भात के रूप में दूल्हा या दुल्हन, उनकी माँ और ससुराल पक्ष एवं रिश्तेदारी के स्त्री–पुरुषों को लत्ते–कपड़े उपहार स्वरूप दिए जाते हैं। अंत में क्षमतानुसार धन राशि भी दी जाती है। विवाह के अवसर पर कन्यादान से लेकर संतानोत्पत्ति और भात के रूप में जो कुछ भी पीहर पक्ष द्वारा दिया जाता है, वह एक तरह से पिता की दौलत में पुत्रों के साथ पुत्री के हिस्से की भरपाई है।

भात भराई की रस्म प्रायः शादी की पूर्व संध्या को अदा की जाती है। भात के पूरे कार्यक्रम के दौरान महिलाएँ भात के गीत गाती हैं। भोजन–खोजी आखेटावस्था व वनोपज संग्रहण के पश्चात् पशुपालन युग को पार करते हुए मीणा समुदाय कृषि कर्म में प्रवेश कर चुका था। वर्तमान में यह समुदाय मुख्यतः खेती किसानी पर जीवनयापन करता है। इसीलिए रबी की फसल से निवृत होने के बाद ग्रीष्म ऋतु में शादी–ब्याह किये जाते हैं। इस मौसम के जेठ मास में कई दफ़ा मानसून पूर्व की बारिश हो जाती है। अगर ऐसा हुआ तो भात का कार्यक्रम बाधित होने लगता है। ऐसी दशा में औरतें गाने लगती हैं–

'मत बरसे, ओ काडे मेघ, मेरो बाबुल (बाप) आयो भातैयी

मैं तो बरसूगों बरसूंगो सारी रात, तेरो बाबुल बरसे एक घडी।'

अर्थात् अरे मेघ, मेरे पिता भात लेकर आये हैं, उन्हें भात ओढ़ाने का काम करने दे। अगर तू बरसेगा तो इस नेक काम में बाधा पड़ेगी। इस पर मेघ उत्तर देता है कि तेरा पिता तो घड़ी भर ही भात की बारिश ज्यादा से ज्यादा घड़ी भर करेगा, मैं तो इस कार्यक्रम का आनंद सारी रात बरसते हुए लूँगा।

यहाँ दक्षिणी राजस्थान के मीणा लोकगीत को भी शामिल किया जाना ज़रूरी है–

'वीरा भाणज को मांडो बेगा आवजो रे
वीरा सुनड़ी जो लई वेगा आव रे
माड़ी रो जायो ऐसी लायो रे भला सुनड़ी रे
बहन्या सुनड़ी जो मारेत नहीं सजे रे वीरा
वीरा रुपियो जो लई वेगा आव रे
माड़ी रो जायो ऐसी लायो रे भला सुनड़ी रे
बहन्या सुनड़ी जो मारेत नहीं सजे रे
वीरा भाणज अठानी (अठन्नी) जो लई वेगा आव रे
माड़ी रो जायो ऐसी लायो रे भला सुनड़ी रे
वीरा चारानी जो लई वेगा अव रे
माड़ी रो जायो ऐसी लायो रे भला सुनड़ी रे
बहन्या चारानी जो मारेत नहीं सजे रे वीरा
वीरा खाली जाजम पे बैठो रे
माड़ी रो जायो ऐसी लायो रे भला सुनड़ी रे
वीरा भाणज को मांडो बेगा आवजो रे।'

दूल्हे की माँ अपने भाई से आग्रह कर रही है कि तुम्हारे भानजे का ब्याह है, भात लेकर जल्दी आना। अपनी बहन के लिए सुनड़ी (चुनरी) अवश्य लाना। आते ही जाजम पर बैठना जो तुम्हारे बिना सूनी है।

लड़के की शादी में ससुराल के लिए प्रस्थान से पहले दूल्हे की निकासी (प्रस्थान) की रस्म होती है। उसे बस्ती के चक्कर लगवाये जाते हैं। लोक देव–देवियों के दर्शन करवाए जाते हैं और फिर बारात की रवानगी से पहले तक हथाई अथवा मंदिर जैसे किसी सार्वजनिक स्थल पर बतौर इंतज़ार बैठा दिया जाता है। निकासी के दौरान दूल्हे को घोड़ी पर बैठाया जाता है। दूल्हे के साथ ही घोड़ी को केंद्र में रखकर भी गीत गाये जाते हैं, जैसे– 'घोड़ी नरवर गढ़ सू आई रे वाके दादा ने मोल चुकायो रे / वाकी मैया राणी ने भर दियो मोल अलबेली घोड़ी बिदकेगी।।' निकासी के वक्त विवाह की उमंग का जो माहौल बनता है, उस पर गीत है–

'म्हारो बनड़ो बाबा जी सू जार अड्यो
बा तो माँगे छै रुपिया पचास
परणबा (परिणय) को छाव लग्यो
रंग राच्य रह्यो
झरोका सू जनानी झाँक रही'।।

बारात समेत दूल्हे की शादी हेतु ससुराल के लिए विदाई के पश्चात् की रात महिलाओं के लिए बेहद मस्ती की होती है। पहले बारात में महिलाएं नहीं जाती थीं। परंपरा के अनुसार स्त्रियाँ शादी की रात भर 'खोड़िया' मनाती हैं। यह एक किस्म का स्वांग होता है। स्त्रियों में से एक जनी दूल्हे और दूसरी दुल्हन का रूप धारण करती है। दूल्हे का स्वांग करने वाली महिला अक्सर असल दूल्हे के ही कपड़े पहनती है। शेष महिलायें बारातियों एवं वधू पक्ष के किरदार निभाती हैं। बारात की अगवानी से लेकर, तोरण, फेरे एवं अन्यान्य नेगाचार किये जाते हैं। दूल्हे व दुल्हन को पति–पत्नी के संबंधों एवं गृहस्थी की सीख तक दी जाती है। इस दौरान गाली शैली के गीतों की बहुतायत रहती है। एक बानगी यहाँ प्रस्तुत है:–

'अरर।।। आँगन मांड्या मांडणा, पछीत (पीछे की दीवार) मांडी मोर

ब्याई जी तो सो गिया, ब्याण कू ले गिया चोर

बुझ गयी चिमनी, बन गयो खेल

सैल (सैर) करे तो प्यारी ले चलूँ रूपारेल' (एक नदी)

मान लो शादी लड़की की है। बाप बेटी को कन्यादान समझें अथवा दहेज़, बेटी के हिस्से का कुछ न कुछ देता ही है। बेटी अपने बाप से माँग करती है–धौड़ा धौड़ा बैल बाबुल फेरा पै दीज्यो, चांदी सोना का गिलास पातड़ नोट की दीज्यो। और जो बाप ग़रीब है तो बेटी उससे कुछ नहीं माँगती। उलटी सलाह देती है कि– बाबुल मती महांकी बोल्या लगावे रे, म्हारी शाद्यां में टापरी मत लुटावे रे। अर्थात् बाबुल, मेरी बोली मत लगवाइये। दहेज के लिए मेरी शादी में अपनी टापरी (झोंपड़ी) बर्बाद मत कीजिये। प्यार करने वाला पति मिल गया तो पीहर याद नहीं आता। म्हारो पति परेमी (प्रेम करने वाला) मिलगो जामण (जन्म देने वाली माँ) याद को आवे। आखिर पीहर तो पीहर ही होता है। बचपन से किशोरावस्था जहाँ व्यतीत हुई, वह धरा तो बार बार याद आयेगी ही। इसलिए सब सुख–चैन होते हुए भी पति से विनती करती है।

'खिंदादे (भेज दे) ढोला (पतिदेव) पीहरिया (पीहर) का रोंख (रूँख) बिरख (वृक्ष) देख्याऊँगी

संग–सहेली, भैया–भाभी सूं मिल आऊँगी

मोकू साँझ–सकारे फिर–फिर हिचकी आवे रे

मैया बापन सूं या ढब सू (इस कदर से) मिल आऊँगी

खिंदादे ढोला'।।

आदिवासी स्त्री के लिए पीहर का मतलब केवल माँ–बाप अथवा भाई–बहन नहीं होते, पूरी बस्ती होती है। बस्ती के दरख़्त, वनस्पतियाँ, नदी–नाले, झील–झरने, ताल–तलैया, पशु–पक्षी सब होते हैं। वहाँ की धरती और आसमान होते हैं। अगर इनका क्रम समझा जाए तो पेड़–पौधे पहले, फिर सहेलियाँ, भैया–भाभी और माँ–बाप आते हैं। बाप के स्थान पर 'बापन' शब्द का प्रयोग हुआ है जो बाप के बहुवचन का द्योतक है, जिसका तात्पर्य जन्मदाता पिता ही नहीं, बल्कि बाबा, ताऊ, चाचा, सहित समस्त कुल–कुटुम्बी और बस्ती के वरिष्ठ वाशिंदे होते हैं। अपने ससुराल में वह स्त्री इन सबको याद करती है और उनसे मिलने की चाह रखती है। अगर पति दुःख देता है तो कहती है–लाड करयो बाबुल ने रोडु (रोड़ा करने वाला) मत लोदडी (पेड़ की हरी टहनी) मारे। फिर वह संदेश भेजती है–म्हारा बाबुल सु खै (कह देना) दीज्यो दुख तेरी लाडली पावे।

दुल्हन को विदा करने की आखिरी रस्म का क्रम उसकी माँ द्वारा पुत्री को प्रतीकात्मक दुग्धपान, मिलाप, दुल्हन की पगधूलि को हाथों में लेना और अपने घर के भीतर प्रविष्ट हो जाना होता है। माँ अपनी सद्य परिणीता बेटी की पग–धूलि को परेंडा (पेयजल–पात्र रखने का स्थान) पर रख देती है, जहाँ वह भीगकर इधर–उधर बिखर जाती है। दूल्हे और बारात के संग दुल्हन प्रस्थान कर देती है। इसके तुरंत बाद दुल्हन की माँ मटकी लेकर कुएं (अब नल अथवा हैंडपंप भी) पर जल भरने चली जाती है। उस घड़ी माँ को अपनी बेटी बहुत याद आती है। मीणा लोकगीत की भावविभोर कर देने वाली यह पंक्ति देखिये–म्हारी जीजी याद (तब) करेगी, धरेगी जब झेड़ (मटकी) माथा पै।

दुल्हन के घर के आगे बारात आ पहुँची है और दूल्हे द्वारा तोरण मारने के वक्त जो रस्मोरिवाज़ अदा किए जाते हैं, उस समय औरतें 'तोरण के गीत' गाती हैं जिनमें मज़ाक का पुट भरा होता है। इस गीत में लाडा (दूल्हा) को बूढ़ा, काड़ो (काले रंग का), मुच्छड़ (अधिक आयु की प्रतीक मूँछो वाला) और आखिर में बक्खड़ या गैलड़ (स्त्री के पूर्व पति की संतान) तक कह दिया जाता है–

या तो बूढ़ो लाडो आयो रे

या तो काड़ो लाडो आयो रे

या तो मुच्छड़ लाडो आयो रे

याकी मैया लारे आयो रे।।

माहौल विवाह के रंग में रंग हुआ है, इसे मज़ाकिया रंग में रंगने के लिए दूल्हे की माँ पर इस गीत में पहले से अधिक तल्ख़ ताना मारा जाता है, यह कहते हुए कि–

'दूल्हे की मैया ने कसम करयो है, एक तेली एक बणिया / ओ रंग बरसेगो

तेली बेचे तेल की जलेबी, बणियों गुड़ की भेली / रंग बरसेगो

रंग बरसे कछु इमरत (अमृत) बरसे,

और बरसै कसतूरी / रंग बरसेगो।।'

तोरण की रस्म से पहले हथाई (सामूहिक गतिविधियों का स्थल) के नेगाचार होते हैं। वर पक्ष द्वारा दुल्हन के लिए जो वस्त्राभूषण लाये जाते हैं उन्हें दूल्हे के जीजा के संग वधू परिवार के यहाँ भेज दिए जाते हैं, जिन्हें वधू पक्ष की महिलाएँ देखती हैं। तोरण की घड़ी में उसे लेकर भी व्यंगबाण छोड़े जाते हैं–

'या के ढाई मण सरसों हुई रे कोरो छाबड़ो ल्यायो

कुंडल न्ह ल्यायो तो लाडा, खाजा नीम कै फेरा।।'

अर्थात दुल्हन के लिए कुंडल नहीं लाया तो लड़की की जगह नीम के पेड़ के साथ फेरा खाकर शादी मान ले। उधर दुल्हन भी नाराज़ है। बिना कुंडल के वह फेरे लेने से ही मना कर देती है–

जीजी मैं फेरा पै को बैठूँ कुंडल नईं घड़ावे तो।

दूल्हा पसंद आ गया फिर भी कुछ नुक्स तो निकालना ही है।

छोरो सब ताणी (तरह से) सु टन्न (पसंदीदा) जरा सी नाक मोटी है

कुणने ह्येयो जीजी सिंदोडी सी नाक को छोरो

म्हारी नणदल (ननद) आगे या लाडो बटेर सो लागे

दूल्हा को मजाक में छोटे कद का बताते हुए गीत के बोल हैं–

तोरण उचकर (उचक कर) क्यों मारे सासू का घोड़ी लेने को आयो। उचक कर तोरण मारने पर उलाहना दिया जा रहा है कि जब पता था की कद छोटा है तो घोड़ी पर चढ़कर तोरण मारता। कोई महिला किसी बच्ची को कहती है कि लाडा छोटा है। तोरण मारने के लिए उसे चौकी पर चढ़ना पड़ेगा। छोरी बेगी ल्याज्यो चौकी तोरण हाथ को आयो। फिर उसे उलाहना मिलता है–लाडा तिने बिरथा ई, माई को दूध लजायो रे / तोरण कांई मारेगो बींद, पियो कोनी दूध जीजी को। यह दूल्हा क्या तोरण मारेगा जिसने अपनी जीजी (माँ) का दूध ही नहीं पिया। इसी तरह यह पंक्ति–शंकर बाजरा की बाल बराबर, म्हारो परण्यो। देहाती इलाके में बिजली यदा कदा ही आती है। जनरेटर की व्यवस्था करनी पड़ती है। तोरण मारने से पहले के पल अचानक जनरेटर बंद हो जाता है। गीत की पंक्ति है–होगो फैल मटो, तोरण पै धोखो देगो रे। फेरा खावे में दुलह कू, मोड़ो (देर) होगो रे।

जब दूल्हे को अत्यंत कमज़ोर, कुपोषित या बीमार साबित करते हुए यह गीत गाया जाता है–'ओरी जीजी चक्कर खारय गिरेगो, डंडो हाथ में देदे' तो मामला दूल्हे के लिए बर्दाश्त से बाहर हो जाता है। ध्यातव्य है कि तोरण के नेगाचार में घड़ी भर लग जाती है। इसका समापन सास द्वारा दूल्हे की बलैया लेने के साथ होता है। इधर दूल्हे को जल्दी है। दूल्हे को महिलाओं ने खूब खरी खोटी सुना दी है। अब दूल्हा भी कहे बिना नहीं रहता।

'फूल सी छोरी के तो जोड़ै बैठ लेबादै

रे सासू, लेर बलैया हट जा, तोरण मार लेबा दै।'

दूल्हे को किसी कीमत पर नाराज़ नहीं किया जा सकता। महिलाएँ अपनी टोन बदलते हुए गाने लगती हैं–ओरी जीजी काडो है जब कांई री, घणी सुहावनी राखे / म्हारो रे डियो गजब को भाभी भारी हद लाडली राखै / भारो प्यार करेगो जीजी, राखे जीव सूं प्यारी.... वगैरा वगैरा।

इस अवसर पर दक्षिणी राजस्थान के मीणा लोक गीतों में से एक की बानगी यहाँ देना उचित होगा, जिसमें दूल्हे को चेताया गया है कि 'दुल्हन के घर आते वक्त जरा सावधान रहना। यहाँ कुछ भी हो सकता है। घर के आँगन में नीम का हरा पेड़ है। तुम्हारी सासू गुस्सैल है। उसने नयी रस्सी तैयार की है जिससे तुम्हें बांधकर पेड़ पर लटकाएगी। तुम मेरी बहन के घर आओगे, तुम मेरी बहन की देहरी चढोगे तब मजा आएगा।

'आँगणिये माए लीलम (हरा) लेमड़ी (नीम) जमाई
हाऊड़ी कणा आकरा जमाई
जमाई जदीये खबर पड़े जमाई
नवो नाड़ो जमाई औसो माते टेरी हो जमाई
मारे बेन ने आँगणिया आवे ते रे जमाई
मारे डेलिए चढ़े ते रे मजो आवे'

फेरों की घड़ी से ताल्लुक रखने वाले गीत भी प्रचुर मात्रा में हैं–

'बचलो छै न जेठ जे तो गीत घणा गावे / काका फेरा में को बैठूँ लाडो जयम्ती (जयन्ती गुटका) खावे।' अर्थात् दूल्हा तीन भाईयों में सबसे छोटा है। मँझला भाई जो कि दुल्हन का मँझला ही जेठ होगा, वह तो अच्छे गीत गाता है और यह दूल्हा जयन्ती ब्रांड का गुटका खाता है। इसलिए 'हे काका, मैं तो फेरों में नहीं बैठती।' अब फेरों पर दूल्हा व दुल्हन बैठ गए और कार्यक्रम चालू है। उस वक्त दूल्हा दुल्हन को टेढ़ी नज़रों से देखता है। उसकी इस हरकत पर गीत के बोल हैं–काँय बैम गैबी के, जे डोडो झाँके चे / छोरी या फेरा में हाथ मरोड़े नीत खराब लाग चे। गीत की इस पंक्ति का अर्थ है कि या दूल्हा गैबी (एक तरह की गाली) के किस किस्म का बैम (वहम) है जो डोडो (टेढ़ा) झाँक रहा है? इस सवाल का ज़वाब गीत में आता है कि री छोरी (लड़की) यह दूल्हा फेरों के वक्त तेरा हाथ मरोड़ रहा है। मुझे तो दूल्हे की नीत (नीयत) ख़राब लग रही है।

विवाह की सम्पूर्ण प्रक्रिया में दूल्हा व दुल्हन तो केंद्र में रहते ही हैं, किंतु बारात का महत्त्व सामुदायिक दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। अगुवानी से लेकर विदाई तक बारात का अच्छा ख़ासा ध्यान रखा जाता है। कोशिश रहती है कि बारात का कोई भी सदस्य किसी बात पर नाराज़ नहीं होने पाये। वधू पक्ष द्वारा क्षमतानुसार बारात के लिए विशेष भोज की व्यवस्था की जाती है। बारात को सारी बस्ती आदर के साथ देखती है। पुराने वक्त में तो बारात रात में रुकती थी और बारात के सदस्य अपने अपने समूह बनाकर जब नहा–धोकर सुबह गाँव में घूमते तो हर घर नाश्ते के लिए तैयार रहता था। रात को गरिष्ठ भोजन लेने के बाद सब की इच्छा होती कि सुबह राबड़ी, दही, छाछ जैसा कुछ खाने को मिल जाये। तदनुसार उन्हें संतुष्ट करने के प्रयास किये जाते थे। दोपहर बाद का खाना खाने के पश्चात् बारात विदा कर दी जाती थी। आजकल तो रात्रि भोज के बाद ही बारात को विदा कर दिया जाता है। दुल्हन की विदाई अगली सुबह होती है। उसके लिए दूल्हे के संग ख़ास ख़ास बाराती ठहर जाते हैं।

दूल्हे की शादी के बाद बारात और दूल्हा दुल्हन वापस आ जाते हैं। उसके बाद के रस्मोरिवाज़ में कंकण–डोरे (सगुन के धागे आदि) खोलना, लोक देव–देवियों के स्थल पर जाकर उनका आशीर्वाद लेना,

कुटुम्बी घरों के द्वार पर दुल्हन के हाथ के पंजों की छाप वगैरा के रिवाज़ किये जाते हैं।

मीणा समुदाय में बाल विवाह का प्रचलन काफ़ी हद तक रहा है। अब जैसे जैसे शिक्षा का प्रचार–प्रसार होता जा रहा है, इस प्रथा में कमी आ रही है। बाल विवाह की दशा में लड़की को पत्नी की हैसियत से ससुराल में नहीं भेजा जाता था। विवाह की रस्मों के पश्चात् दुल्हन को पीहर ले आया जाता था। युवावस्था में प्रवेश करने के साथ विवाहित युग्म का गौना / गौणा (मुकलावा) किया जाता था। वर पक्ष की तरफ से चुनिंदा सदस्य लड़के के साथ उसकी ससुराल जाते थे। उनके साथ मेहमानों सहित विवाहिता को बाकायदा नए वस्त्रादि देकर विदा किया जाता था। ससुराल में कुल–कुटुंब में बाँटने के लिए मिठाई बाँधी जाती थी, जिसे धोहड़ी कहते हैं। पहले मिठाई के स्थान पर चौड़े आकर की पुड़ी हुआ करती थी। आजकल लड्डू व अन्य मिष्ठान्न का चलन है। इस अवसर की एक महत्वपूर्ण बात थी कि पीहर से गौणायली (लड़की) के साथ सोने का गद्दा व रजाई भी भेंट की जाती थी। यह इस बात का संकेत था कि अब वह युवती पत्नी के रूप में अपने पति के साथ जीवन बिताना आरम्भ करेगी। स्वाभाविक है कि यह अवसर विवाहित जोड़े के लिए छाव (उमंग) का होता था। युवती सजधज कर तैयार रहने की आशा और प्रयास करती थी। गौने का प्रमुख गीत है–

'ओ रे छोरा सुनार का, बेसर गढ़ ल्या मोय
मेरे गौना के दिन चार
ओ रे छोरा बजाज का साड़ी ल्या दे मोय
मेरे गौना के दिन चार
ओ रे छोरा रंगरेज का चुनरिया तो रंग ल्या मोय
मेरे गौना के दिन चार'

शृंगारित होने के लिए युवती को बेसर (आभूषण का नाम), साड़ी, रंगी हुई चूनर आदि की ज़रूरत होती है, जिन्हें वह इस गीत में माँग रही है।

इस तरह विवाह की प्रक्रिया सगाई के साथ शुरु होती है और लग्न, विनायक स्थापना, तेल चढ़ाना, चाक–भात, निकासी, बारात की अगुवानी, भाँवर, विदाई, खोड़िया, दुल्हन का स्वागत, देव–देवियों की ढुकायी और गौने की रस्म के साथ समाप्त होती है। इन सभी चरणों का विवाह में महत्त्व होता है। विवाह एक बड़ी सांस्कृतिक गतिविधि है जिसके अधिकांश रीति–रिवाज़ सामूहिक प्रकृति के होते हैं। लोक–गीतों में सामूहिकता का भाव होता ही है। इस बात पर भी गौर किया जाना चाहिए कि विवाह संबंधी मीणा लोक गीतों में महिलाओं की भूमिका अहम् होती है। गीत गायन में सभी की भागीदारी रहती है। लोक गीत संस्कृति एक दीर्घ परंपरा का भाग है। इसमें किसने क्या जोड़ा, क्या घटाया, इसकी पहचान करना कठिन है। यहाँ व्यक्ति नहीं, अपितु समुदाय की सामूहिकता महत्वपूर्ण होती है जो आदिम कबीलों की विशिष्टता है।

*****

सत्य की राह

अच्छे कर्म मानव जीवन में भले ही अदृश्य रहते हों लेकिन वे दूसरों के दिलों पर ऐसी छाप छोड़ जाते हैं जो तब तक नहीं मिटती जब तक हम कोई गलत काम नहीं कर देते हैं। जिस प्रकार सही अवसर आने पर खड़े होकर बोलना एक साहस की बात होती है, ठीक उसी प्रकार खामोशी से बैठकर दूसरों की बात सुनना और समझना भी साहस ही होता है। इस नश्वर संसार में सब कुछ अस्थायी है, इसलिए जीवन में कभी भी तनावग्रस्त ना रहें और अपनी उम्र को भूलकर, अगर आपके पास ईश्वर को पाने के सपने हैं, तो समझो कि आप अभी इस राह पर युवा हैं और परमपिता परमेश्वर को आसानी से पा सकते हैं।

मुरिया जनजाति का पूस कोलांग नृत्य

रजनी शर्मा बस्तरिया
सोनिया कुंज
रायपुर, छत्तीसगढ़।

प्रकृति की गोद में उन्मुक्त जीवन जीने वाले छत्तीसगढ़ प्रांत में स्थित बस्तर के आदिवासियों का नृत्य–गीत सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है। मांदर की थाप और 'रे रे ले यो रे ले ला' की कर्णप्रिय स्वर लहरी में बरबस अपनी ओर खींचने की अदम्य क्षमता है। मानव के साथ ही नृत्य का जन्म हुआ है, क्योंकि आनंद और उल्लास की अभिव्यक्ति मानव की मूल प्रवृत्ति है।

बस्तर जिले में मुरिया जनजीवन घोटुल और लिंगोदेव के इर्द–गिर्द परिक्रमा करता है। ऐसी स्थिति में संगीत का भी घोटुल और मुरिया जनजाति से अटूट सम्बन्ध है। मुरिया समाज में जितनी भी अच्छी उत्कृष्ट संस्थाएँ एवं व्यवस्थाएँ हैं उन्हें लिंगोपेन द्वारा प्रदत्त माना जाता है। मुरिया जन का विश्वास है कि संगीत के आदिदेव लिंगो थे। इनके संगीत के तीन आयाम हैं – नृत्य, गीत एवं वाद्य। मुरिया समाज में इन तीनों आयामों के साथ न्याय किया जाता है।

बस्तर के घोटुलों में मनोरंजन या धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक गीत एवं नृत्य बारहमासी (वर्षभर) होते रहते हैं, किन्तु मुरिया जनजाति में एक ऐसा भी नृत्य है जो केवल नृत्य ही नहीं, कठिन आराधना का पर्व भी है। इस पर्व को पूस कोलांग कहते हैं। आदि संस्कृति की विविध परम्पराओं में कोलांग अत्यन्त रोचक एवं लोकप्रिय नृत्य विधा है। कोलांग नृत्य निषेध एवं वर्जनाओं व आंगिक चेष्टाओं के कारण अन्य नृत्य विधाओं से भिन्न है।

'कोलांग' गोंडी भाषा का शब्द है, पूस माह में होने वाला डण्डा नृत्य पूस कोलांग कहलाता है। गोंडों की मान्यता है कि पूस पूर्णिमा के दिन काली कंकाली का जन्म हुआ था। गोंड इसे जन्मदात्री माँ मानते हैं और माँ के जन्मदिन के उत्सव को ये उत्साहपूर्वक मनाते हैं। पूस माह में मनाये जाने के कारण यह पर्व पूस कोलांग के नाम से प्रसिद्ध हो गया। आमतौर पर आदिवासी समाज में सभी धार्मिक पर्वों में बलि देना तथा शराब का तर्पण कर मांस–मदिरा का सेवन अनिवार्य है। पूस कोलांग एक ऐसा पर्व है जिसमें कोलांग पर्व की सकुशल समाप्ति के लिए तर्पण एवं बलि दी जाती है।

यह कठिन आराधना का पर्व है। इस पर्व के प्रत्येक विधान में विशेष सावधानी आवश्यक होती है। यह अनुशासन और संयम का पर्व है। इस पर्व के साथ अनेक मान्यताओं, परंपराओं के साथ अनेक वर्जनाएँ भी जुड़ी हुई हैं। लोगों में यह भय सदैव बना रहता है कि जरा सी लापरवाही का दण्ड दैवीय विधान में कठोर होता है। इसलिए पूस कोलांग के प्रत्येक विधान में सावधानी बरती जाती है।

पूस कोलांग घोटुल से सम्बन्ध रखता है और घोटुल केवल मुरिया जनजातियों में पाया जाता है। पूस कोलांग मध्य बस्तर के नारायणपुर एवं कोण्डागाँव क्षेत्र की मुरिया जनजाति द्वारा किया जाने वाला देव नृत्य है।

पूस कोलांग केवल देवगीतों की धुन पर डण्डे से नाचा जाने वाला एक विशेष धार्मिक नृत्य है। इसे पूस महीने के अलावा अन्य किसी महीने में नाचा या गाया नहीं जा सकता। यह पूस माह के शुक्ल पक्ष में किया जाता है।

पूस कोलांग नृत्य प्रत्येक गाँव के लोगों द्वारा नहीं किया जाता, बल्कि जिस गाँव में कोलांग गुरु (कोला मुड़िया) देवता होते हैं, उसी गाँव के लोग कोलांग नृत्य करते

हैं। कोलांग नृत्य देवताओं की आराधना में किया जाता है। कोलांग तीन प्रकार के देवों के लिए है, जिसमें ग्राम देवी (जिआदारिन) कानाहुर्रा और माड़िन डोकरी (पति–पत्नी) एवं पाट देव के लिए नृत्य किए जाते हैं। इसके अलावा अन्य किसी देव का कोलांग नहीं होता। कोलांग को लिंगोदेव के 18 और भीमा के 12 वाद्य यंत्रों एवं नृत्यों में से एक माना गया है।

देवी परम्पराओं के अनुसार कोलांग की शुरुआत कार्तिक महीने में ही हो जाती है। कोलांग गुरु (कोला गुड़िया) एवं ग्राम गायता द्वारा विधिवत इष्ट देवी–देवताओं, पाटा गुरु लिंगो, तलुरमुत्तै, जिमोदारिन और पंच देवल देवताओं की सेवा पूजा के उपरान्त कोलांग नृत्य की शुरुआत की जाती है। कोलांग मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं– पेन कोलांग तथा एट कोलांग।

पेन कोलांग विशुद्ध अनुष्ठानिक नृत्य है। इस नृत्य में नर्तकों को एक कोलांग की तुलना में अधिक निषेधों व वर्जनाओं का पालन करना होता है। जब नर्तक दल दूसरे गाँव नाचने जाते हैं तो इस नृत्य में पूर्णिमा तक हर हाल में उन्हें अपने गाँव आना जरूरी होता है। उसी दिन नृत्य का समापन होता है। समापन के उपरान्त पुनः नृत्य किया जाना निषिद्ध है।

कोलांग मौसम के पूर्वार्ध में कोलांग गुरु को कोलांग देवता प्रभावित करता है या सपने दिखाता है, फिर गाँव के घोटुल में कोलांग गुरु इसकी जानकारी सभी को देता है और कोलांग की ओली बनाई जाती है। कोला नर्तकों के लिए गायता द्वारा केला बेड़गा (डंडा) काटा जाता है। इस दौरान कोला मुड़िया (कोलांग गुरु) और कोला लयोर (युवक) की उपस्थिति आवश्यक होती है। इस दिन गायता प्रातः स्नान करने के बाद धवई पेड़ (पिट्टे हितुम) का डंडा काटता है, जिसे पारंपरिक ढंग से सजाते हैं। धवई पेड़ के डण्डे को सिंहाड़ी अथवा कुम्ही रस्सी से कलात्मक ढंग से लपेटा जाता है, फिर आग से इस तरह जलाया जाता है कि डण्डा मुलायम हो जाता है। लिपटी हुई रस्सियों को डंडे से निकालने के बाद उसमें कलात्मक लकीरें उभर उठती है, जो अत्यन्त आकर्षक एवं मनमोहक होती हैं। कोला बेड़गा सजाने की यह परम्परा आज भी कायम है। कोला लयोर (युवक) आज भी अपने डण्डों को इसी तरह सजाते–संवारते हैं।

कोलांग नृत्य पुरुषों के द्वारा की जाने वाली नृत्य विधा है। महिलाओं के लिए यह निषिद्ध माना जाता है। नर्तक दल यदि किसी गाँव में नाचने जाता है तो अविवाहित युवा अर्थात् घोटुल के सदस्य लयोर ही जा सकते हैं। विवाहित सदस्यों में सामान्यतः कोला मुड़िया (कोलांग गुरु) होता है, जो घोटुल के लयोर को कोलांग नृत्य से प्रशिक्षित करने में अपनी भूमिका निभाता है। कोलांग नर्तक किसी गाँव में तीन वर्ष, पाँच वर्ष अथवा सात वर्ष के लिए कोलांग नाचने जाते हैं। महिलाओं की भागीदारी का न होना उनकी उपेक्षा को नहीं दर्शाता, बल्कि एक प्राचीन धार्मिक परम्परा है। पहले दिन गाँव में मातागुड़ी के समक्ष नृत्य का प्रारंभ किया जाता है।

नृत्यकला के पूर्ण ज्ञान के लिए 17–20 दिनों तक पूर्वाभ्यास देवी आराधना गीतों के साथ किया जाता है। प्रशिक्षण कोलांग गुरु के द्वारा दिया जाता है। प्रशिक्षण कार्य घोटुल में न होकर किसी छायादार वृक्ष के नीचे रात्रिकाल में होता है। ये नृत्य बहुत ही श्रम साध्य होते हैं तथा इनका अभ्यास वन–युवकों को बहुत ही सावधानी से कराया जाता है। पद संचार (ढांका) आदि में थोड़ी सी भी भूल बहुत अधिक घातक हो सकती है। प्रत्येक नर्तक के हाथ में एक डण्डा होता है, वे घेरा बनाकर नाचते हैं। डण्डे को टकराते हुए आगे बढ़ते हैं। अँगूठे के बल पर स्वाभाविक पद संचालन करते हैं। बायां पाँव ऊपर–नीचे करते हुए दायीं ओर घूमते हैं।

प्रशिक्षण का कार्य पूर्ण होने पर एक निश्चित दिन नृत्य के लिए जाने वाले युवक एवं बुजुर्ग अग्नि प्रज्ज्वलित कर उसके चारों ओर नृत्य करते हैं। प्रातः काल की राख की परीक्षा की जाती है। यदि राख अविकीर्ण हो या उस पर चीते, कुत्ते या बैल के पैरों के निशान पाये जाते हैं तो यात्रा शुभ मानी जाती है। बैल शक्ति–संस्कृति और कुत्ता आखेट का सहचर्य है। चीतों को लिंगोपेन पूस कोलांग नृत्य की प्रथम यात्रा पर अपने साथ ले गये थे, इसलिए इसे शुभ माना जाता है। किन्तु यदि राख पर किसी व्यक्ति के पैरों के निशान हों या बिल्ली अथवा मुर्गे के पैर के चिन्ह हों तो इसे अशुभ माना जाता है। शुभ–अशुभ का विचार विभिन्न मुहूर्त पर जनजातियां ही नहीं करतीं, बल्कि इस प्रकार के विचार अन्य समाज में भी प्रचलित हैं।

कुछ गाँवों में यह मान्यता है कि राख का स्पर्श किसी जीव के द्वारा नहीं होना चाहिए। इन गाँवों में कोई भी निशान खतरे का सूचक माना जाता है। खतरे की सूचना पर युवक सिरहा से विचार–विमर्श करते हैं। सिरहा यदा–कदा यात्रा को स्थगित कर देता है, तो कभी–कभी विशेष शर्तों के साथ यात्रा की स्वीकृति दे देता है। इनके द्वारा दूसरे और तीसरे दिन पुनः राख में शुभ संकेत मिलते हैं तो यात्रा की तैयारी करने लगते हैं। यात्रा की पूर्व रात्रि को आस–पास के देवी–देवताओं, परगना के प्रमुख देवी–देवताओं की आराधना होती है, इसे देव उतरना कहा जाता है। इस दौरान रात्रि में अंगीठी जलाई जाती है। यदि अंगीठी की लकड़ी में दीमक लग गया तो अशुभ मानकर कोलांग बंद कर दिया जाता है।

चेलिक (युवक) नृत्य यात्री की तैयारी छेंरता पुन्नी के एक सप्ताह पूर्व से करते हैं। इस अवधि में वे अपने लिए परिधान, आभूषण और अन्य श्रृंगारपरक संकलन के साथ ही मोटियारिनी (तरुणियों) से अपने कंठ पर धारण करने हेतु कंठ मालाएँ एकत्रित करते हैं। यह उनकी सौंदर्यप्रियता का द्योतक है। कोलांग नृत्य की पोशाक में युवक सिर पर पगड़ी, मोर पंख, कुंदरा, टेपरा, घण्टी, नैना, हाथ में कड़ा, गले में माला, पगड़ी में दर्पण–कंघी, पत्तियां अँगुली में अँगूठी, पैरों में घुँघरु, कान में लुड़की–घुलुरका, झाप, बनियान व कमर में साड़ी का घाघरा बनाकर पहनते हैं।

यात्रा से एक दिन पूर्व चेलिक साजो श्रृंगार एवं सत्यनिष्ठ भाव से नृत्य भूमि पर दिन भर नृत्य करते हैं। इस दिन वे किसी से बातचीत नहीं करते और न ही मोटियारिनों (युवतियों) की और आकर्षित होते हैं। यह दिन अनेक नृत्य एवं आत्म परीक्षण का दिन होता है। इससे उनमें आत्मिक वृद्धि के भाव का विकास होता है। इस नृत्य में डरावना मुखौटा या शोभनीय परिधान पहनना निषिद्ध है।

जब कोलांग टोली निकलती है तो गाँव की माटी माता, भूमियार, लिंगो, भीमा और जिस देव या देवी का कोलांग निकाला जाता है, उस देव या देवी की पूजा–अर्चना करके, उस देव की बरछी के ऊपरी सिर पर धान के पैरे को ऐंठकर बनाई गई मोटी रस्सी, जिसे बेंत कहा जाता है, बाँध दिया जाता है। उस पर आग लगा दी जाती है, इस आग को बुझने नहीं दिया जाता, जब तक गाँव वापसी न हो जाये। गुरु अपने पास मोरपंखों की झण्डी लिए हुए होता है। साथ ही वह अपनी आराध्य देवी से संबंधित कोई सामान जैसे टंगिया वगैरह अपने साथ ले जाता है। इसके पश्चात् पूरी सजावट के साथ टोली यात्रा पर निकलती है। नर्तक दल किसी दूसरे गाँव नाचने जाने से पूर्व अपने ग्राम के गायता के घर नृत्य करते हैं। नारी शक्ति स्वरूपा गायतिन (गायता की पत्नी) से आशीर्वाद लेते हैं। गायतिन उन्हें आरती लेकर तिलक लगाती है तथा शुभकामना देती है। हेसा (भेंट) स्वरूप दाल–चावल आदि रसद सामग्री देती है, ताकि रास्ते में उसका भोजन बनाकर खा लें।

पूस कोलांग के बड़े कठोर नियम होते हैं जिनका पालन कोलांग नर्तकों को करना पड़ता है। माता, काना हुर्रा, माड़िन डोकरी के कोलांग में एक–दूसरे से बात करने की इजाजत होती है। इसके विपरीत पाट देव के कोलांग में एक–दूसरे से बात करना सख्त मना है। कोई भी सदस्य एक–दूसरे से बातें नहीं करते। किसी गाँव के किसी घर में प्रवेश नहीं करते, किसी भी घोटुल की सीमा में प्रवेश नहीं करते, वे किसी विवाहित स्त्री के हाथ का बना भोजन, ऋतुगति स्त्री की छाया से भी परहेज करते हैं। गिरे हुए वृक्ष नहीं लांघते। आरणी विधि से अग्नि पैदा करते हैं। मान्यता है कि नियमों का पालन नहीं करने पर देवी–देवता क्रुद्ध होकर उनका अहित कर सकते हैं, जिस आग से खाना पकाते है, वह बेत के पवित्र आग से सुलगाया जाता है।

जब कोलांग लयोर (युवक) यात्रा के लिए गमन करते हैं, तब गायता एवं सिरहा यात्रा दल को मार्ग में छोड़ने जाते हैं। जब गाँव की सीमा में पहुँचते हैं तो पुनः ग्राम देवताओं से सकुशल वापस लौटा लाने की प्रार्थना करते हैं। गायता सीमा पर एक रेखा खींच देता है, उस पर आंवले की सात पत्तियाँ, साथ में लोहे के सात टुकड़े, अभिमंत्रित चावल के सात छोटे–छोटे ढेर रखकर गायता तथा सिरहा मार्ग के परिपार्थ में पालथी मारकर बैठ जाते हैं। चेलिक अपने सुरक्षित लौट आने की प्रार्थना करते हैं और अपने लिए एक जोड़ी भी बनाते हैं। यह जोड़ी नृत्य यात्रा से गाँव वापसी तथा भौतिक जीवन में लौटने तक बनी रहती है। यदि इस बीच कोई अभिचारिक या आधिभौतिक आपत्ति का संकेत होता है तो सिरहा ध्यानावस्थित होकर सब कुछ समझ जाता है।

यात्रा दल के साथ एक कुत्ता भी ले जाया जाता है, जो चीते का प्रतीक है। इस कुत्ते पर संस्कारपूर्वक ग्राम देवी के मंदिर से घंटी उतारकर लिंगोपेन के नाम से उसके गले में बाँध दी जाती है। नृत्य यात्रा के दरम्यान कुत्ते की गतिविधियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कुत्ता शांत बैठा रहे तो शुभ माना जाता है और यदि वह इधर–उधर भटके या अन्य कुत्तों से झगड़े या यात्रा दल को छोड़कर गाँव वापस लौट आये तो उसे अशुभ एवं खतरा माना जाता है। यदि ऐसा हुआ तो विश्वास किया जाता है कि इससे किसी नर्तक की मृत्यु होगी। नर्तक दल अपने दल का ही भोजन ग्रहण करता है।

जब नर्तक दल एक गाँव से दूसरे गाँव के लिए निकल पड़ता है, तब दो ग्रामों की सीमा में आग लगे बेत को निकालकर बरछी जमीन में गाड़कर कापड़ दिया जाता है। बेत की आग में धूप का हवन दिया जाता है तथा आँवले की पत्ती से बनी सात मुद्रिकाएँ दाल–चावल फेंके जाते हैं, इसे ही कापड़ देना कहते हैं। गाँव के निकट पहुँचकर किसी वृक्ष की छाया में पुनः एकत्रित होते हैं तथा आरणी विधि से भाले की नोक से खुद आग पैदा कर लेते हैं। उनमें कुछ लोग भोजन तैयार करते हैं और कुछ आकर्षक वेषभूषा धारण कर सबसे पहले गाँव के मुखिया के घर के पास गोल घेरा बनाकर संगीत के साथ नृत्य करने लगते हैं। तब गाँव वालों को पता चलता है कि किसी गाँव का नर्तक दल आया हुआ है। नृत्य पूर्ण होने के पश्चात् अपने गीतों के माध्यम से ही युवतियों को अपना परिचय बताया जाता है कि हम अमुक गाँव के हैं, हम अमुक गोत्र के हैं।

इसके पश्चात् टोली गाँव की गलियों में घुँघरु की घनन–घनन, डंडों की टिड़िक–टिड़िक और देव गीतों के रसीले लय के साथ नृत्य करती है। नृत्य करते समय या डंडे को बजाते समय किसी भी प्रकार की त्रुटि अप्रत्याशित खतरों का नियंत्रण है। यदि किसी ने पद संचार या दण्ड प्रहार में किंचित भूल भी कर दी तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता है। यदि जोड़ी में से कोई एक युवक भूल कर बैठता है तो उस गाँव का गायता, गाईन की पगड़ी को उतार देता है तथा दण्ड के रूप में

यात्रा दल को दो बोतल शराब गाँव पहुँचने पर गायता को देनी पड़ती है। भोजन का वक्त होने पर अनुशासित रूप से टोली भोजन के लिए अपने डेरे पर चली जाती है। भोजन के पश्चात् टोली फिर से दूसरे गाँव की ओर चल पड़ती है।

जिस गाँव में शाम ढलने का अनुमान होता है उसी गाँव के किनारे किसी वृक्ष के नीचे शाम का भोजन होता है अथवा घोटुल की सदस्य युवतियाँ नर्तक दल के लिए भोजन तैयार करती हैं। भोजन के लिए गाँव के प्रत्येक घर से चंदा जमा किया जाता है अथवा घोटुल फण्ड से खर्च किया जाता है। प्रातः काल का भोजन नर्तक दल का स्वयं का होता है। भोजन के पश्चात नर्तक दल सोने के लिए गाँव के ठाकुर के घर के पास किसी वृक्ष के नीचे अपना डेरा डालते हैं। अपना सामान वृक्ष के नीचे रखकर नर्तक दल ठाकुर के आँगन में जाकर नाचते हैं, जिसे देव उतारना कहा जाता है।

दो नर्तकों की जोड़ी अपनी कोलांग डंडी को आमने–सामने खड़े होकर जोड़े रखती है। इन्हीं डण्डों पर मोरपंखों की झंडी से मारते हुए कोलांग गुरु पश्चिम की ओर मुखातिब होकर पूर्व की ओर कतार बनाते हैं। फिर लयबद्ध तरीके से देव गीत गाये जाते हैं। उस गाँव की माटी माता, भूमियार और आस–पास के सभी देवी–देवताओं के नाम गीत में लिये जाते हैं। नर्तक कुछ कदम आगे और कुछ कदम पीछे देवगीतों के साथ झूमते हुये चलते हैं। अंत में लिंगो, भीमा और संबंधित कोलांग देव का नाम लिया जाता है। उसी वक्त साँप की तरह टेढ़े–मेढ़े चलते हुये नृत्य और गीत गाये जाते हैं। इसे कोकोट हर्र नृत्य कहा जाता है। कतार के अंतिम छोर के दो नर्तकों की कमर में बड़े घुँघरु बंधे होते हैं जो कलाबाजी करते हुए जोकर का कार्य करते हैं, उसे मण्डा पिट्टे कहते हैं। यह एक मण्डा पिट्टे नामक पक्षी के समान कंपनयुक्त नृत्य होता है। नृत्य समाप्त होने पर हिंकुरिंग नृत्य होता है, इसे 'बानकर' नृत्य भी कहा जाता है। इसमें रिंग की तरह गोल घेरा बनाकर नृत्य किया जाता है। गोले के बीच में चार युवकों के कंधे पर तीन युवक और उनके ऊपर दो युवकों का देवर (पिरामिड) चढ़ाकर नृत्य करते है। चढ़े हुये लोगों को गीतों में मुंजोटा (बंदर) की संज्ञा दी जाती है। गीतों के बीच–बीच में मुंजोटा हूँ–हूँ करते रहते हैं। इस बीच ठाकुर और ठकुराइन–एक पात्र में दीया (दीपक) और थाली (थाल) में चावल लेकर निकलते हैं। देवार (पिरामड) बनाये लोगों एवं देव चिन्ह के लिए कोलांग गुरु के पैर धुलाते और चावल का टीका लगाते हैं, फिर एक सूप भरकर धान व तरपनी के लिए पैसे भेंट करते हैं। मुंजोटों को यह कहकर उतारा जाता है कि ठाकुर के घर हो दिया गया है, अब तुम नीचे उतर जाओ।

इसके पश्चात् वे अपने डेरे में शयन के लिए चल देते हैं। इनके सोने के भी विशेष नियम होते हैं। इनके बिछाने के लिए धान का पैरा भी गाँव वालों द्वारा डेरे में पहुँचाया जाता है। नर्तक पैर के ढेर पर नहीं जाते। यदि कोई जोड़ा पहले दिन पश्चिम दिशा में सोया था तो वह अगले दिन बायें से दायें पश्चिम–दक्षिण दिशा में सोएगा। इसी तरह दक्षिण और दक्षिण–पूर्व, उत्तर–पूर्व, उत्तर, उत्तर–पश्चिम सोने का नियम है।

यात्रा के दौरान राह में किसी गिरे हुए वृक्ष को नहीं बांधा जाता। जब यात्रा की वापसी में वे एक गाँव से दूसरे गाँव की सीमा को पार करते हैं, तो सीमोलंधन का पुराना संस्कार पुनः यहाँ दुहराया जाता है। इसी तरह उनकी यात्रा तीन दिन, पाँच दिन या सात दिन की होती है।

नृत्य दल की वापसी की निर्धारित तिथि को गायता एवं युवतियाँ वन जाकर सेमल के पौधे को संस्कार पूर्वक पूजा अर्चना कर चावल चढ़ाकर सावधानी से काटती हैं। सेमल के वृक्ष को जमीन पर गिरने नहीं दिया जाता तथा इस वृक्ष में यह भी विशेषता होनी

चाहिए कि इसमें सेम डालियाँ एवं उप डालियाँ भी समान हों। इस वृक्ष को उसी स्थान पर स्थापित करते हैं जहाँ से चेलिकों द्वारा यात्रा प्रारंभ करने से पूर्व अग्नि प्रज्ज्वलित की गई थी। यदि स्थापित करने पर वह अधकटा वृक्ष सीधा खड़ा नहीं होता तो यह माना जाता है कि यात्रा दल के चेलिक अभी खतरे में हैं। युवतियाँ उस वृक्ष के चारों ओर मिट्टी का छोटा चबूतरा बनाती हैं। इसे छुई मिट्टी से लीपती हैं तथा संध्या के समय घोटुल में इनके लिए भोजन भी पकाती हैं। स्थापित वृक्ष की डालियों पर साजा वृक्ष की पत्तियाँ तथा तंबाखू के बण्डल एवं दातौन लटका देती हैं। नृत्य दल के सदस्य गाँव लौटकर गायता के घर नाचते हैं, वहाँ से सीधे घोटुल जाकर स्थापित सेमल के वृक्ष के नीचे देव की बरछी को रखकर हर्रे की ध्वनि के साथ नृत्य दण्ड को सेमल के वृक्ष पर लटका देते हैं।

वृक्ष पर रखी गई तंबाकू से धूम्रपान एवं दातून से मुँह साफकर अपने भौतिक जीवन में लौटते हैं। कुत्ते के गले से भी घंटी उतार ली जाती है और उसे यथा स्थान दूसरे दिन स्थापित किया जाता है। तत्पश्चात् घोटुल की मोटियारिनों (युवतियों) द्वारा तैयार भोजन ग्रहण करते हैं, किन्तु चेलिक उस रात घोटुल में शयन नहीं करते हैं। सेमल वृक्ष के नीचे लिंगोपेन ने गोंडों को सामाजिक विभाजन का दार्शनिक ज्ञान दिया था, अतः सेमल वृक्ष लोगों के ज्ञान मार्ग का प्रतीक है। इसलिए लिंगो नृत्यों में सेमल वृक्ष का होना शुभ माना जाता है, यह जनजातियों द्वारा वृक्ष पूजा का द्योतक भी है। शाम के सहभोग हेतु प्रातः काल युवतियाँ यात्रा दल द्वारा लाये गये अनाज को कूटती–पीसती हैं। सायंकाल चेलिक एवं मोटियारी उस कुटे हुए अनाज को साथ मिलाकर पकाते हैं। युवक नृत्य में तल्लीन रहते हैं। वे नाचते हुए गायता के घर जाते हैं और कसेर गायता के साथ गाँव की सीमा में जाते हैं तथा रास्ते में प्रत्येक चेलिक अपने हाथ में एक पत्थर उठा लेता है।

सीमा पर माटी गायता, पानी से मार्ग पर एक स्थान स्वच्छ करता है। उनके साथ अन्य बुजुर्ग भी होते हैं। तब सभी युवक लिंगो के सम्मान में एक स्थान पर पत्थर का ढेर लगा देते हैं। गायता पहले अपना पत्थर रखता है, इसके पश्चात् युवक अपने–अपने विशालखण्डों को स्थापित करते हैं। अन्त में कुत्ते के नाम पर भी तीन पत्थर रखे जाते हैं। एक निश्चित पत्थर पर चूजे की बलि दी जाती है। दूसरे दिन चेलिक पत्थरों का निरीक्षण करने जाते हैं, और यदि ढेर में से कोई पत्थर खिसक जाता है तो उसे अपशकुन माना जाता है और ऐसा समझा जाता है कि किसी नाचने वाली जोड़ी की मृत्यु हो जायेगी। गायता लौटकर साफ किये गये स्थान पर पानी छिड़कता है, उसे लीपता है तथा उसके ऊपर चावल के सात ढेर रखकर कापड़ देता है। मार्ग के आर–पार चेलिक सिंहाड़ों की रस्सी को लम्बायमान कर देते हैं और अपने नृत्य दण्डों को उससे बांध देते हैं। एक किनारे पर पवित्र मयूरपंख बाँध दिये जाते हैं– दो युवक दोनों छोरों से रस्सी को खींचते हैं, जिससे वह तन जाय। उस स्थान को कोलांग भाटा कहा जाता है। कोलांग देव व भूमियार को गायता चूजे–अण्डे तथा सूर की बलि देता है। मार्ग पर चेलिक लिंगो श्रृंगार को हटाते हैं, पगड़ियों को समेटते हैं तथा सम्पूर्ण श्रृंगार बाँस की टोकनियों में रख देते हैं। यह मान्यता है कि किसी की सगाई करने जाते वक्त रास्ते में टंगे कोलांग डंडों को अशुभ मानकर तोड़ा जाता है।

जब पूस कोलांग समाप्त होता है, चेलिक अपने–अपने घरों में लौट जाते हैं, किन्तु कुछ प्रमुख चेलिक गायता के साथ माता देई के मंदिर में जाकर माड़िया पेन की पवित्र बरछी को वहाँ पुनः स्थापित कर देते हैं। सभी के सुरक्षापूर्वक लौट आने पर पुजारी एक बकरे की बलि देता है। सायंकाल भी गांव के सभी लोगों के लिए सहभोज आयोजित होता है। सहभोज की समाप्ति के पश्चात युवकों का घोटुल जीवन पुनः प्रारंभ हो जाता है।

*****

वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ में क्या बन्दर थे हनुमान

राज सक्सेना,
धनवर्षा, हनुमान मंदिर,
खटीमा (उत्तराखण्ड)

एक नगर या गांव में एक से लेकर सैकड़ों तक बने हनुमान मन्दिरों में स्थापित हनुमान जी की मूर्तियों में सजे हनुमान जी के स्वरूप ने इस प्रश्न को यक्ष प्रश्न बनाकर रख दिया है कि हनुमान जी अपने वास्तविक रामायण पात्र रूप में क्या थे? क्या वे एक बन्दर थे? क्या वे एक आदि मानव थे? या फिर वे वास्तव में एक अतीव शक्तियों से सम्पन्न एक विद्वान मनुष्य ही थे। वाल्मीकि रामायण की अलंकारिक कवित्त भाषा ने एक अतीन्द्रिय मानव को वानर (वन में रहने वाला) से बन्दर का ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया जो राम चरित मानस तक आते–आते हिन्दुओं की कल्पना शक्ति से बन्दर की मूर्ति में बदल कर जगह–जगह मन्दिरों में स्थापित होकर रह गया। अगर आप तर्क और प्रमाण सामने रख कर भी किसी हनुमान भक्त से यह विश्वास करने के लिये कहें कि हनुमान जी बन्दर नहीं, वानर जाति या जनजाति के मनुष्य थे तो वह किसी भी दशा में मानने को तैयार नहीं होगा, और हो सकता है कि उसके धार्मिक विश्वास को पहुंच रही ठेस उसे उत्तेजित भी कर दे। ऐसा नहीं है कि इस गंभीर विषय पर किसी ने गंभीरता पूर्वक विचार न किया हो। अनेक विद्वानों ने इस प्रश्न पर विचार और मनन किया है। कुछ ने हनुमान जी को और उनकी वानर जाति को पौराणिक काल्पनिक जाति माना और वाल्मीकि ने वानर जाति के कार्यकलापों का वर्णन जो किया है, उसे निरर्थक विचित्रताओं का ब्यौरा मात्र कहा है। कुछ अन्य ने उन्हें मात्र बन्दर मान कर कोई विशेष महत्व न दिए जाने पर जोर दिया है। किन्तु, वानर सभ्यता का जो सजीव विवरण रामायण में है, वह इन दोनों मान्यताओं को गलत सिद्ध करने के पर्याप्त साक्ष्य प्रस्तुत करता है। देखा जाए तो रामायण के पात्रों में सबसे सक्रिय भूमिका में हनुमान ही दिखाई देते हैं। एक बार परिदृश्य में आकर वे अंत तक कोई न कोई सक्रिय भूमिका निभाते मिलते हैं। एक समर्पित प्रकाण्ड विद्वान, बलशाली, अतीन्द्रिय, सर्वगुण सम्पन्न सेवक के रूप में उनके कार्यकलाप सहसा विश्वास करने को तैयार नहीं होने देते कि वे काल्पनिक चरित्र हैं, कोई आदिमानव या अतीन्द्रीय बन्दर भी हो सकते हैं । शाब्दिक अर्थ का एक ऐसा अनर्थ जो वनचारी, वनजीवी विद्वान, वीरवर हनुमान को बन्दर बना कर रख दे, गले नहीं उतरता । अगर हनुमान बन्दर थे तो सीता को खोज लेने के उपरान्त वे जब पीठ पर बिठा ले जाने का प्रस्ताव करते हैं, तो सीता जी पर पुरुष स्पर्श का पाप ढोने से अच्छा नर्क में रहना क्यों पसन्द करतीं। क्या यह हनुमान जी के मानव होने का प्रबल साक्ष्य नहीं है ? रामायण में राक्षसों के बाद वानर जाति का सबसे अधिक उल्लेख हुआ है। वह भी दक्षिण भारत की एक अनार्य जाति ही थी, किन्तु इस जाति ने राम के विरोध के स्थान पर राक्षसों से आर्यों के युद्ध में राम का साथ दिया। सिर्फ यही नहीं, उन्होंने तो पूर्व से ही आर्य संस्कृति के आचरण स्वीकार कर रखे थे। बाली से रावण का युद्ध और बाली–सुग्रीव के क्रियाकलाप तथा वाल्मीकि द्वारा तत्कालीन वानर राज्य की प्रदर्शित परिस्थितियों से यह दर्पण के समान स्पष्ट हो जाता है। वास्तविकता यह है कि विंध्य पर्वत के दक्षिण में घने वनों में निवास करने वाली जनजाति थी वानर। वे वनचर थे, इसलिये वानर कहे गये या फिर

उनकी मुखाकृति वानरों से मिलती जुलती थी, अथवा अपने चंचल स्वभाव के कारण इन्हें वानर कहा गया, या फिर इनके पीछे लगी पूंछ के कारण (इस पर आगे चर्चा करेंगे) ये वानर कहलाए। यह इतिहास के गर्भ में है। केवल नामकरण के ही आधार पर बन्दर मान लेना उचित नहीं होगा। इस सम्बन्ध में केवल एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। दक्षिण में एक जाति 'नाग' पाई जाती है। क्या वे लोग नाग (सर्प) हैं। नागों का लंका के कुछ भागों पर ही नहीं, प्राचीन मालाबार प्रदेश पर भी काफी दिनों तक अधिकार रहने के प्रमाण मिलते हैं। रामायण में सुरसा को नागों की माता और समुद्र को उसका अधिष्ठान बताया गया है। मैनाक और महेन्द्र पर्वतों की गुफाओं में भी ये निवास करते थे। समुद्र लांघने की हनुमान की घटना को नागों ने प्रत्यक्ष (5/1/84–बा.रा.) देखा था। नागों की स्त्रियां अपनी सुन्दरता के लिये प्रसिद्ध थीं(5/12/21बा.रा.)। नागों की कई कन्याओं का अपहरण रावण ने किया था(5/12/22 बा.रा.)/ ।रावण ने नागों की राजधानी भोगवती नगरी पर आक्रमण करके (7/23/5,6/,3/32/14) वासुकी, तक्षक, शंख और जटी नामक प्रमुख नागराजों को धूल चटाई थी।

कालान्तर में नाग जाति के, इक्का दुक्का को छोड़कर, प्रथम शताब्दी में प्रभुत्व में आई चेर जाति में समाहित होने के प्रमाण हैं(सप्तम ओरिएंटल कांफ्रेंस विवरणिका–1933–साउथ इन्डिया इन द रामायन–वी. आर.रामचन्द्र)। स्वंय तुलसी दास जी ने लंका की शोभा का वर्णन करते हुए लिखा है –

'वन बाग उपवन वाटिका सर कूप वापी सोहहिं,

नर नाग सुर गंधर्व कन्या रूप मुनि मन मोहहिं'।

इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में रावण को जगह जगह दशानन, दशकन्धर, दशमुख और दशग्रीव आदि पर्यायों से सम्बोधित किया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ दस मुख या दस सिर मानकर रावण को दस सिरों वाला अजूबा मान लिया गया, जबकि वाल्मीकि द्वारा प्रयुक्त इन विशेषणों का तात्पर्य–'दशसु दिक्षु आननं (मुखाज्ञा)–यस्य सः दशाननः' अर्थात् रावण का आदेश दसों दिशाओं में व्याप्त था। इसीलिये वह दशानन या दशमुख कहलाता था।

यही नहीं, कवि ने पक्षीराज जटायू के मुख से ही कहलवाया है कि वह दशरथ का मित्र है। रामायण में घटे प्रसंगों और घटनाओं से ही स्पष्ट हो जाता है कि जटायु गिद्ध नहीं, मनुष्य था। कवि ने आर्यों के आदरसूचक शब्द आर्य का कई बार जटायु के लिये प्रयोग किया है। रामायण में जगह जगह जटायु के लिये पक्षी शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसका समाधान ताण्ड्यब्राह्मण से हो जाता है जिसमें उल्लिखित है कि–'ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये विद्वांसस्ते पक्षा।' (ता.ब्रा. 14/1//13), अर्थात् जो जो विद्वान हैं, वे पक्षी और जो अविद्वान (मूर्ख) हैं वे पक्ष–रहित हैं। जटायु वान–प्रस्थियों के समान जीवन व्यतीत कर रहे थे। ज्ञान तथा कर्म उनके दो पक्ष थे जिनसे उड़कर(माध्यम से)वे परमात्मा प्राप्ति का प्रयास कर रहे थे। अतः उनके लिए पक्षी का सम्बोधन सर्वथा उचित है।

वानरों का आर्यों से मिलता–जुलता अपना राजनैतिक संगठन था। इसका वर्णन वाल्मीकि ने अनेक प्रसंगों में किया है। किष्किन्धा का उल्लेख कपि राज्य के रूप में किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि उनकी एक सुसंगठित शासन व्यवस्था थी। एक प्रसंग में तो बाली के पुत्र अंगद ने सुग्रीव से पृथक वानर राज्य गठन का विचार तक कर लिया था (4/54/1)। सीता की खोज में दक्षिण गए वानरों के समूह से समुद्र की अलांघ्यता महसूस कर अंगद कहते हैं–

'कस्य प्रसाद्दारांश्च पुत्रांश्चौव गृहाणि च ।

इतो निवृत्ता पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम्'।

(4/46/17)।

अर्थात्– किसके प्रसाद से अब हम लोगों का प्रयोजन सिद्ध होगा और हम सुख पूर्वक लौटकर अपनी स्त्रियों,पुत्रों अट्टालिकाओं व गृहों को फिर देख पाएंगे।

विभिन्न स्थानों पर वाल्मीकि ने वानर नर–नारियों की मद्यप्रियता का भी उल्लेख किया है। वानरों के सुन्दर वस्त्राभूषणों का भी हृदयग्राही वर्णन स्थान–स्थान पर आता है। सुग्रीव के राजप्रसाद की रमणियांभूषणोत्तम भूषिताः थीं। (4/33/23)। वानर पुष्प, गंध, प्रसाधन और अंगराग के प्रति आग्रही थे। किष्किंधा का वायुमण्डल चंदन, अगरु और कमलों की मधुर गंध से सुवासित रहता था (चन्दनागुरु–पद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिताम्(4/33/7)।

सुग्रीव का राज्याभिषेक जो वाल्मीकि जी ने (समकालीन एवं इतिहासवेत्ता होने के कारण)वर्णित किया है, शास्त्रीय विधिसम्मत परम्परागत प्रणाली के अधीन ही सम्पन्न हुआ था। यह इस तथ्य का द्योतक है कि वानर आर्य परम्पराओं और रीति रिवाजों का पालन करते थे, अर्थात् आर्य परम्पराओं के हामी थे। बाली का आर्य रीति से अन्तिम संस्कार और सुग्रीव का आर्य मंत्रों और रीति से राज्याभिषेक भी सिद्ध करता है कि चाहे वानर आर्येतर जाति हों, उनके अनुपालनकर्ता मानव थे, बन्दर नहीं।

यहां यह भी उल्लेख करना आवश्यक होगा कि वाल्मीकि रामायण जो तत्कालीन इतिहास ग्रंथ के रूप में लिखी गयी थी, के अनुसार वानरों की जाति पर्याप्त सुसंस्कृत और सुशिक्षित जनजाति थी। सुग्रीव के सचिव वीरवर हनुमान वाल्मीकि रामायण के सर्वप्रमुख उल्लिखित वानर हैं जिन्होंने अपनी विद्वतता से मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम को सबसे अधिक प्रभावित किया और उनके प्रियों में सर्वोच्च स्थान भी प्राप्त करने में सफल रहे। वह वाक्यज्ञ और वाक्कुशल (4/3/24) तो थे ही, साथ ही व्याकरण, व्युत्पत्ति और अलंकारों के सिद्धहस्ता भी थे। उनसे बात करके श्रीराम ने यह अनुमान लगा लिया कि जिसे ऋग्वेद की शिक्षा न मिली हो, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास न किया हो तथा जो सामवेद का विद्वान न हो, वह इस प्रकार की सुन्दर भाषा का प्रयोग (नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेद्विदुषः शक्य–मेवं विभाषितुम। नूनं व्याकरणं कृत्स्तमनेन बहुधा श्रुतम्।बहु व्याहरतानेन किंचिदपशब्दितम।(4/3/28–29) नहीं कर सकता। हनुमान उन आदर्श सचिवों में सर्वश्रेष्ठ थे जो मात्र वाणी प्रयोग से ही अपना प्रयोजन प्राप्त कर सकते थे।

सार संक्षेप में हनुमान एक पूर्णमानव, बल, शूरता, शास्त्रज्ञान, पारंगत, उदारता, पराक्रम, दक्षता, तेज, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, विनय आदि उत्तमोत्तम गुणसम्पन्न(एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः।(6/13/26) पूर्ण मानव थे, अर्ध मानव या बन्दर नहीं थे।

अब अन्त में उस तथ्य पर विचार जिसके आधार पर वानरों, और विशेषकर वीरवर हनुमान की बन्दर स्वरूप की कल्पना हुई, अर्थात् उनकी पूंछ के यथार्थ पर विचार करें।

वानर शब्द की इस जाति के लिए वाल्मीकि रामायण में 1080 बार आवृति हुई है तथा इसी के पर्याय स्वरूप वन गोचर, वन कोविद, वनचारी और वनौकस शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वानर शब्द बन्दर का सूचक न होकर वनवासी का द्योतक है। इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी चाहिये–वनसि (अरण्ये) भवः चरो वा वानरः=वनौकसः, आरण्यकः। वानरों के लिये हरि शब्द 540 बार आया है। इसे भी वनवासी आदि समासों से स्पष्ट किया गया है। प्लवंग शब्द जो दौड़ने की क्षमता का व्यंजक है, 240 बार प्रयुक्त हुआ है। वानरों की कूदने–दौड़ने की प्रवृत्ति को सूचित करने के लिये प्लवंग या प्लवंगम् शब्द का व्यवहार उपयुक्त भी है। हनुमान उस युग के एक अत्यन्त शीघ्रगामी दौड़ाक या धावक थे। इसीलिये उनकी सेवाओं की कई बार आवश्यकता पड़ी थी। कपि शब्द 420 बार आया है, जो सामान्यतः बन्दर के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

चूंकि रामायण में वानरों को पूंछ युक्त प्राणी बताया गया है, इसलिए वे कपयः थे। वानरों को मनुष्य मानने में सबसे बड़ी बाधा यही पूंछ है। पर यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह पूंछ हाथ पैर के समान शरीर का अंग न होकर वानरों की एक विशिष्ट जातीय निशानी थी जो संभवतः बाहर से लगाई जाती थी। तभी तो हनुमान जी की पूंछ जलाए जाने पर भी उन्हें कोई शारीरिक कष्ट नहीं हुआ। रावण ने पूंछ को कपियों का सर्वाधिक प्रिय भूषण बताया था–कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम(5/53/3)–(रामायणकालीन समाज शांति कुमार नानूराम व्यास)।

इस संबन्ध में यह अवगत कराना भी उचित होगा कि पूर्वोत्तर राज्यों में अभी भी ऐसी कई जातियां हैं जो अपने सिर पर जंगली पशुओं के दो सींग धारण करके अपनी शक्ति और वीरता का परिचय हर उत्सव के समय देते हैं, तो क्या उन्हें जंगली भैंसा या बैल मान लिया जाय। मध्य प्रदेश की मुण्डा जनजाति में भी यही परिपाटी है।

शायद शक्ति प्रदर्शन के साथ ही यह सिर की सुरक्षा का एक सरल उपाय होता हो। जिस प्रकार क्षत्रिय या सैनिक अपनी पीठ पर सुरक्षा के लिये गैंडे की खाल से बनी ढाल को पहनते रहे हैं, हो सकता है वानर वीर भी अपने पृष्ठ भाग की सुरक्षा हेतु वानर की पूंछ के समान धातु या फिर लकड़ी अथवा किसी अन्य हल्की वस्तु से बनी दोहरी वानर पूंछ को पीछे से, जिधर आंखें या कोई इन्द्रिय सजग नहीं होती, की ओर से हमला बचाने के लिये लगाते हों क्योंकि बाली,सुग्रीव या अंगद की पूंछ का कहीं पर भी कोई जिक्र नही आता है, यह भी अजीब बात है या नहीं ? इस विषय पर भी खोज और गहरा अध्ययन आवश्यक है, ताकि कारणों का पता चल सके।

यहां यह स्पष्ट करना भी उचित होगा कि वाल्मीकि रामायण में किसी भी जगह या प्रसंग में वानरों की स्त्रियों की पूंछ होने का उल्लेख या आभास तक नहीं है।

उपरोक्त तथ्यों से इस भ्रान्ति का स्पष्ट निराकरण हो जाता है कि वानर नामक जनजाति जिसके तत्कालीन प्रमुख सदस्य वीरवर हनुमान थे, एक पूर्ण मानव जाति थी, बन्दर प्रजाति नहीं। हां, उनकी अत्यधिक चपलता,निरंकुश और रूखा स्वभाव,चेहरे की (संभवतः पीला रंग और मंगोलायड मुखाकृति जो थोडी बन्दरों से मिलती होती है) बनावट के कारण ही तथा अनियमित यौन उच्छृंखलता,वनों,पहाड़ों में निवास,नखों और दांतों का शस्त्र रुप में प्रयोग और क्रोध या हर्ष में किलकारियां मारने की आदत के कारण उन्हें एक अलग पहचान देने के लिये ही, आर्यों ने उनके लिए कपि या शाखामृग विशेषण का प्रयोग किया हो और जो आदतों पर सटीक बैठ जाने के कारण आमतौर से प्रयोग होने लगा हो, जिसने इनके पूर्व जातिनाम का स्थान ले लिया हो। इस जनजाति के किसी अन्य जाति में विलय या संस्कृति नष्ट हो जाने के उपरान्त कपि शब्द ने पर्याय के स्थान पर प्रमुख उद्‌बोधन का स्थान ले लिया हो।

मन्मथ राय ने वानरों को भारत के मूल निवासी व्रात्य माना है (चिं.वि.वैद्य–द रिडिल आफ दि रामायण पृ. 26)। के. एस. रामास्वामी शास्त्री ने वानरों को आर्य जाति माना है जो दक्षिण में बस जाने के कारण आर्य समाज से दूर होकर जंगलों में सिमट गई और फिर आर्य संस्कृति के पुनः निकट आने पर उसी में विलीन हो गई। व्हीलर और गोरेशियो आदि अन्य विद्वान इसे दक्षिण भारत की पहाड़ियों पर निवास करने वाली अनार्य जाति मानते हैं जो आर्यों के सन्निकट आकर उन्हीं की संस्कृति में समाहित हो गई। यह जनजाति या जाति चाहे आर्य रही हो या अनार्य, थी एक विकसित आर्य संस्कृति के निकट, ललित कलाओं के साथ चिकित्सा, युद्ध कला, रूप परिवर्तन कला और अभियन्त्रण (अविश्वसनीय लम्बे–लम्बे पुल बनाने की कला सहित), गुप्तचरी और

मायावी शक्तियों के प्रयोग में बहुत चतुर मानव जाति। कोई पशुजाति नही थी। इसके तत्कालीन सिरमौर वीरवर हनुमान एक श्रेष्ठ मानव थे, बन्दर नहीं। वानरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वयं वाल्मीकि रामायण में अत्यन्त स्पष्ट घोषणा है कि वानर अधिकतर देवताओं के पुत्र थे। बालकाण्ड के सत्रहवें सर्ग में इनकी उत्पत्ति का विवरण निम्न प्रकार है –

जब भगवान विष्णु महामनस्वी राजा दशरथ के पुत्र भाव को प्राप्त हो गये,तब भगवान ब्रह्मा जी ने सम्पूर्ण देवताओं से इस प्रकार कहा (1)–प्रधान–प्रधान अप्सराओं,गन्धर्वों की स्त्रियों,यक्ष और नागों की कन्याओं,रीछों(नागों के समान यह भी कोई जाति रही होगी–लेखक)की स्त्रियों, विद्याधरियों, किन्नरियों तथा वानरियों (स्पष्ट है यह भी अन्य जातियों की तरह कोई मनुष्य जाति थी। होगी, तभी वाल्मीकि ने अन्य जातियों के साथ वानरियों शब्द का उल्लेख किया है–लेखक)के गर्भ से वानररूप –(सम्भवतः वन में रहने वाले–लेखक) में अपने ही तुल्य पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करो (5/6)।

भगवान ब्रह्मा के ऐसा कहने पर देवताओं ने उनकी आज्ञा स्वीकार की और वानररूप में अनेकानेक पुत्र उत्पन्न किये। महात्मा, ऋषि, सिद्ध, विद्याधर, नाग और चारणों ने भी वन में विचरने वाले वानर–भालुओं के रूप में वीर पुत्रों को जन्म दिया (9)। किस देवता ने किस वीर वानर को उत्पन्न किया इसका भी विवरण उन्होंने स्पष्ट किया है देवराज इन्द्र ने वानरराज बाली को पुत्र रूप में उत्पन्न किया जो महेन्द्र पर्वत के समान विशालकाय और बलिष्ठ था। तपने वालों में श्रेष्ठ भगवान सूर्य ने सुग्रीव को जन्म दिया (10)। हनुमान नाम वाले ऐश्वर्यशाली वानर वायु देवता के औरस (जायज–लेखक) पुत्र थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ था। वे तेज चलने में गरुड़ के समान थे (16)।

सभी श्रेष्ठ वानरों में वे सबसे अधिक बुद्धिमान और बलवान थे। इस प्रकार कई हजार वानरों की उत्पत्ति हुई। वे सभी रावण का वध करने के लिये उद्यत रहते थे(17)। कुछ वानर रीछ जाति की माताओं से तथा कुछ किन्नरियों से उत्पन्न हुए। देवता, महर्षि, गन्धर्व, गरुड़, यशस्वी यक्ष, नाग, किम्पुरुष, सिद्ध, विद्याधर तथा सर्प जाति के बहुसंख्यक व्यक्तियों ने अत्यन्त हर्ष में भर कर सहस्त्रों पुत्र उत्पन्न किए। वे सब जंगली फल–मूल खाने वाले थे (23)। मुख्य–मुख्य अप्सराओं, विद्याधरियों,नाग कन्याओं तथा गन्धर्व–पत्नियों के गर्भ से भी इच्छानुसार रूप और बल से युक्त तथा स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करने में समर्थ वानर पुत्र उत्पन्न हुए (24)।

उपरोक्त विवरण स्वयं यह सिद्ध करता है कि स्वयं वाल्मीकि वानरों को वन में रहने वाली स्वेच्छाचारी मनुष्य जाति ही मानते थे। बन्दर तो बिल्कुल भी नहीं माना है उन्होंने। और हम हैं कि हमने वीरवर हनुमान को, जो सर्वगुण सम्पन्न देवपुत्र मानव थे, को बन्दर का विद्रूप स्वरूप प्रदान कर दिया, केवल कुछ शब्दों का गलत अर्थ लगा कर या तो अनजाने में या फिर बुद्धिहीनता के वशीभूत। गलती आज भी सुधार लें तो कोई देर नहीं हुई है। अन्त में वाल्मीकि रामायण का एक प्रसंग युद्ध काण्ड से, जब श्री राम की आज्ञा से उनकी सकुशल वापसी का सुसमाचार देने के लिए हनुमान भरत की कुटिया में जाकर उन्हें यह समाचार देते हैं तो भरत प्रसन्न होकर उन्हें यह कहते हैं –

'भैय्या! तुम कोई देवता हो या मनुष्य, जो मुझ पर कृपा कर यहां पधारे हो? सौम्य! तुमने जो यह प्रिय संवाद सुनाया है, मैं इसके बदले तुम्हें कौन सी वस्तु प्रदान करुं? (मुझे तो कोई ऐसा बहुमूल्य उपहार नहीं दिखाई देता, जो इस प्रिय सम्वाद के तुल्य हो)'(43)।

'(तथापि)मैं तुम्हें इसके लिए एक लाख गौएं, सौ उत्तम गांव तथा उत्तम आचार–विचार वाली सोलह कुमारी कन्याएं पत्नी रूप में समर्पित करता हूं (ब्रह्मचारी होने के कारण हनुमान ने सम्भवतः कन्याओं को लेना स्वीकार न किया हो–लेखक)। उन कन्याओं के कानों में सुन्दर

कुण्डल जगमगाते होंगे। उनकी अंग कान्ति सुवर्ण के समान होगी। उनकी नासिका सुघड़, ऊरू मनोहर और मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर होंगे। वे कुलीन होने के साथ ही सब प्रकार के आभूषणों से विभूषित होंगी (44/45)।'

यह प्रसंग भी क्या यह सिद्ध नहीं करता कि हनुमान मानव ही थे। तभी तो उन्हें सोलह रूपवती कुलीन कन्याएं पत्नी स्वरूप भेंट की जा रही थीं। किसी बन्दर को कुलीन कन्याएं पत्नी स्वरूप भेंट करने का क्या औचित्य होता? यह हमारा विवेक और बुद्धि स्वयं निर्णय कर सकती है।

*****

वन नायक अल्लूरि सीताराम राजु

अल्लूरि सीताराम राजु

(4 जुलाई 1897 या 1898–7 मई, 1924)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने वाले भारतीय क्रांतिकारी थे। 1882 के मद्रास वन अधिनियम के पारित होने के पश्चात, वन में जनजातीय लोगों के स्वतंत्र रूप से आवागमन पर लगे प्रतिबंधों के कारण वे अपने पारंपरिक पोडु कृषि प्रणाली, जिसमें झूम खेती शामिल है, में काम नहीं कर पाए। उन्होंने 1922 के ''राम्पा विद्रोह'' का नेतृत्व किया जिस दौरान वर्तमान आंध्र प्रदेश में मद्रास प्रेसीडेंसी के पूर्वी गोदावरी और विशाखापत्तनम क्षेत्रों के सीमांत क्षेत्रों में जनजातीय लोगों और अन्य समर्थकों की टुकड़ी ने इस नियम को पारित करने वाले ब्रिटिश राज के विरुद्ध युद्ध किया। उन्हें स्थानीय ग्रामवासियों द्वारा ''मान्यम वीरुदु'' (जंगल का नायक) कहा जाता था।

राजु गोदावरी एजेंसी की पहाड़ियों और वनों में विचरण करते थे और वहां स्थानीय जनजातीय समुदाय, जो अपने अपमानजनक जीवन को बदलने का तरीका खोज रहे थे, के बीच उन्हें मसीहाई शक्तियों वाले आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में ख्याति मिली। अंग्रेजों को इस चालाक विद्रोही को पकड़ने के लिए गुरिल्ला युद्ध नीति में प्रशिक्षित विशेष मालाबार सेना तैयार करनी पड़ी। अनभिज्ञ विदेशियों ने स्थानीय लोगों को उनके और उनके विद्रोही दल के विरुद्ध भड़काने और उकसाने का प्रयास किया, परन्तु किसी भी तरीके से अंग्रेज उनके साथियों के मन में राजु के प्रति वफादारी को भेद नहीं पाए। शुरुआत में राजु असहयोग जैसे गांधीवादी तरीकों को अपनाने में उत्सुक थे और इन पहाड़ी जनजातियों के सदस्यों को अंग्रेजी अदालतों का बहिष्कार करने और स्थानीय पंचायती अदालतों में न्याय मांगने के लिए कहते थे। यद्यि व्यापक स्तरीय आंदोलन 1922 में कमजोर पड़ने लगा था, परन्तु राजु ने असहयोग आंदोलन के प्रभाव का उपयोग जनजातीय समुदाय के बीच स्वतंत्रता संग्राम के प्रति जागरूकता और परिवर्तन की इच्छा जागृत करने के लिए किया।

वीरांगना झलकारी बाई

गिरेन्द्र सिंह भदौरिया "प्राण"
इन्दौर

झाँसी की रानी के समान, झाँसी की एक निशानी है।
है सदा शौर्य की प्यास जहाँ, पिघले लोहे सा पानी है।।

बचपन से लेकर मरने तक, मरती ही नहीं जवानी है।
वीरता लहू में बहती है, घर घर की यही कहानी है।।

बुन्देले तो बुन्देले हैं, जिनकी गाथा अलबेली है।
उस पर गर्वित बुन्देलखण्ड, हर कौम यहाँ बुन्देली है।।

मैं कथा सुनाऊँ यहाँ एक, योद्धा झलकारी बाई थी।
जो मर्द न थी पर मर्दों के, भी कान काटने आई थी।।

वह वीर व्रता अपनी रानी, झाँसी के लिए समर्पित थी।
लक्ष्मीबाई की सेना में, दुर्गा दल की सेनापति थी।।

हूबहू लक्ष्मी बाई सी, वीरता भवानी जैसी थी।
वय में भी लगभग थी समान, सूरत भी रानी जैसी थी।।

रणबीच उतरती रिपु समक्ष, पुरजोर उछलने लगती थी।
तलवार पकड़ते ही कर में, पैंतरे बदलने लगती थी।।

पानी सी गति पानी सी मति, वह पथरीली बर्फ तरलतम थी।
भारत के लिए सुधा सी, तो बैरी के लिए गरल सम थी।।

है ग्राम भोजला झाँसी, का कह रहा कथा किलकारी की।
थे पिता सदोवा माता थी, जमुना देवी झलकारी की।।

सन अट्ठारह सौ तीस और, दिन था बाईस नवम्बर का।
धरती नाची थी झूम झूम, तन मन पुलकित था अम्बर का।।

उस दिन जमुना देवी ने थी, बालिका नहीं वीरता जनी।
कोरी कुल की कोमल कन्या, जो झाँसी की अस्मिता बनी।।

छः वर्ष बाद जमुना देवी, संसार छोड़ कर चली गईं।
कह गई पिता से पालो तुम, कर जोड़ जोड़ कर चलीं गईं।।

फिर पिता पालने लगे उसे, चल तीर चला तलवार चला।
घोड़े पर बैठ लगाम पकड़, तू सीख सीख हर युद्धकला।।

शाला गुरुकुल की सीख न थी, फिर भी कौशल सीखे सारे।
चर्चे चल पड़े वीरता के, गलियों में क्या द्वारे द्वारे।।

करने पड़ते थे सभी काम, घर की ऐसी लाचारी थी।
जंगल से ईंधन तक लाती, आखिर कुछ जिम्मेदारी थी।।

आ गया एक दिन एक बाघ,वन में बाणों सा छूट पड़ा।
झपटा सहसा झलकारी पर, बन काल क्रूर सा टूट पड़ा।।

झलकारी लिए कुल्हाड़ी थी, देखा तो ऐसा वार किया।
बस उसी वार से एक बार, में ही हिंसक पशु मार दिया।।

बच गई लली बच गई आज, यह खबर पवन ले चले उड़े।
हो उठी वीरता पूजनीय, इस तरह कीर्ति के चरण बढ़े।।

झाँसी की सेना में योद्धा, पूरन तोपची सिपाही से।
हो गया विवाह वधू बाला, झलकारी का शुचिताई से।।

गौरी पूजा के अवसर पर, रानी का मान बढ़ाने को।
नारियाँ गाँव की जाती थीं, झाँसी पर भेंट चढ़ाने को।।

इस बार वधू झलकारी भी, चल पड़ी देखने रानी को।
यूँ लगा भाग्य ने भेज दिया, लक्ष्मी के पास भवानी को।।

देखी कद काठी रूप रंग, वीरता भरा यशगान सुना।
अपनी सी छवि पा रानी ने, सेविका बना कर मान चुना।।

रानी प्रसन्न थी सेवा से, विश्वास बढ़ा निर्देश किया।
रुचि देख वीर झलकारी को दुर्गा सेना में भेज दिया।।

धीरे–धीरे रण कला खुली, हथियार चलाने लगी सभी।
रानी अभ्यास कराने को, खुद भी आती थी कभी कभी।।

कद बढ़ा और पद भार बढ़ा, विश्वास बढ़ा नवनारी थी।
दुर्गासेना की सेनापति, बन चुकी आज झलकारी थी।।

बस उसी समय डलहौजी ने, जब हड़प नीति का दाँव चला।
रानी को भी सन्तान न थी, झाँसी पर धरने पाँव चला।।

कर चला कूच ह्यूरोज ओज, के साथ किले को घेर लिया।
झाँसी का विलय करो या रण, प्रस्ताव किले में भेज दिया।।

गोरों की ताकत के सम्मुख, हर ताकत बौनी लगती थी।
पर झाँसी के मंसूबों से, अनहोनी होनी लगती थी।।

प्रस्ताव सुना बलिवीरों ने, रानी से राय शुमारी की।
रणभूमि रक्तरंजित करने, की वीरों ने तैयारी की।।

रानी का उत्तर सुनने को , रुक गई साँस सरदारों की।
बिजली सी कौंध उठी धड़कन, बढ़ गई उड़ान सितारों की।।

दरबार भरा था वीरों का,सन्नद्ध सन्न थे दरबारी।
हर दृष्टि गड़ी थी रानी पर, झाँसी की रानी हुंकारी।।

सूरज पश्चिम में उगे या कि, हर तारा रोज पलट खाए।
धरती धँस उठे रसातल में, चाहे ब्रह्माण्ड सिमट जाए।।

तो भी जीते जी धरती माँ, माँ सी है कभी नहीं दूँगी।
कितने भी संकट टूट पड़ें, पर झाँसी कभी नहीं दूँगी।।

निर्णय ले लिया उठो वीरो, आ गई घड़ी बलिदानों की।
इतना सुनते ही गूँज उठी, हाँ में हाँ वीर जवानों की।।

तन गईं किले की तलवारें, बुन्देलखण्ड कुलबुला उठा।
सूरज तक ठिठुर गया सुनकर, वीरत्व लिए जलजला उठा।।

तन गई तोप चल पड़ी कुमुक, बुन्देले वीर जवानों की।
दुर्गा सेना चल पड़ी बढ़ी अभिलाष लिए बलिदानों की।।

जिस ओर अड़ा गोरों का बल, उस ओर बढ़ गए बुन्देले।
कायर दुश्मन की छाती को, झकझोर चढ़ गए बुन्देले।।

प्राणों को रखा हथेली पर, दुर्गा सेना का कहर ढहा।
दुश्मन के मरते वीरों ने, जब अबलाओं को बला कहा।।

इस छोर अड़ गई रानी तो, उस छोर चढ़ गई झलकारी।
इस ओर मौत का ताण्डव था, उस ओर काल की किलकारी।।

शोणित की प्यासी तलवारें, क्रूरता बढ़ाने लगीं वहीं।
दोनों चण्डी के चरणों में, नव मुण्ड चढ़ाने लगीं वहीं।।

अँगरेज मारते चौदह तो, दस बीस मारती झलकारी।
दस पाँच उड़ाते बुन्देले, फिर भी रानी सबसे भारी।।

गद्दार सिपाही दुल्हे ने, झाँसी को डाँवाडोल किया।
रखना था बन्द किले का जो, उस कवच द्वार को खोल दिया।।

पर खतरा देखा रानी पर, झलकारी नया खेल खेली।
अपनी पगड़ी रानी को दी, रानी की पगड़ी खुद ले ली।।

बोली चिन्ता छोड़ो रण की, दुश्मन को मैं सदमा दूँगी।
नकली रानी बन झाँसी की, इन गोरों को चकमा दूँगी।।

पति देव किले की रक्षा में, हो गए खेत झलकारी के।
लेकिन इस दुख को भुला दिया, दिन याद किए लाचारी के।।

फिर कहा चली जाओ जल्दी, रानी जी तुम्हें बचाना है।
लो पवन वेग से उडो, यहाँ से अभी निकल कर जाना है।।

सकुशल रानी को भेज दिया, चुपचाप मगर फिर हुंकारी।।
गोरों ने रानी ही समझा, लेकिन थी असली झलकारी।।

फिर वीर बाँकुरी चण्डी सी, दुश्मन सेना पर टूट पड़ी।
सिंहनी खून की प्यासी सी, विष बुझे तीर सी छूट पड़ी।।

गोरों ने समझ महारानी, झलकारी को जब घेर लिया।
सौ सौ रिपुओं के साथ भिड़ी, बावन गोरों को ढेर किया।।

इतने में एक सिपाही ने, धमकी दी भेद बताने को।
गोली मारी झलकारी ने, पर लगी फिरंगी डाने को।।

खुल गया भेद कर लिया कैद, जब नकली रानी बाई को।
ह्यूरोज न रोक सका रण में, खुद करने लगा बड़ाई को।।

पर यह तो पूरी पागल है, यह सोच उसी क्षण छोड़ दिया।
जैसे ही छूटी झलकारी, चुपचाप युद्ध को मोड़ दिया।।

लग गई किले पर फिर से चढ़, तोपों से गोले बरसाने।
हिल उठी फौज अँग्रेजों की, भागो भागो सब चिल्लाने।।

धज्जियाँ उड़ाती काल बनी, मजबूत खम्भ से टूट गए।
बाँटती मौत थी तोपों से, गोरों के छक्के छूट गए।।

यमराज बन गई झलकारी, अनलिखी मौत सी लिखती थी।
बस मौत मौत बस मौत मौत, बस मौत मौत ही दिखती थी।।

लेकिन दुश्मन की एक तोप, का गोला गिरा मुहाने पर।
हो गयी मौन वह वीर बली, सीधी आ गई निशाने पर।।

थम उठीं टनन टन तलवारें, चूड़ियाँ खनन खन खन्न हुईं।
थम गया काल घिर गई घटा,रुक गई हवा सुन सन्न हुई।।

थी अन्तिम साँस रही तब तक, झलकारी हार नहीं मानी।
जब प्राण पखेरू हुए तभी, हथियारों ने हारी मानी।।

गिर पड़ी गाज सी धरती पर, हो गई रक्त से लाल मही।
कह उठी टिटहरी सुनो सुनो, झलकारी जग में नहीं रही।।

रो उठी धरा रो उठा गगन, रो उठा पवन सन्नाटा था।
लगता था आज वीरता को, कुछ कापुरुषों ने काटा था।।

हे धन्य धरा की धन्य सुते ! झाँसी की न्यारी नारी तू।
तू कालजयी वीरांग लली, भारत भर की झलकारी तू।।

तुझ पर गर्वित है ऋणी देश, भीषण रण की बलिहारी तू।
कवि प्राण नमन करता है कर, स्वीकार अरी झलकारी तू।।

बलि पथ पर निकले वीरों की, जीवनी समर हो जाती है।
शुभ कीर्ति फैलती है जग में, वीरता अमर हो जाती है।।

*****

अनुशासन

बिन अनुशासन रे मना, सफल न होते काम।
जीवन स्तर गिरने लगे, तो सके ना कोई थाम।।

प्रगति सदा करता वही, जिसको है ये ज्ञान।
अनुशासन ही है डालता, मृत सपनों में जान।।

सबको पीछे छोड़कर, आगे बढ़ता जाए।
जो मानव हर काम में, अनुशासन अपनाए।।

तमिलनाडु का सांस्कृतिक दर्शनः लोकगीत और लोकनृत्य

डॉ. राजलक्ष्मी कृष्णन
सेवानिवृत प्रोफेसर, चेन्नई

तमिलनाडु की संस्कृति दक्षिण भारत के तमिल लोगों की संस्कृति है। अंग्रेज़ी में लोक साहित्य को फोक लिटरेचर कहते हैं। प्राचीन काल में लोग इस साहित्य को साहित्य मानने से इन्कार करते थे, क्योंकि उनकी मान्यता कि इसमें श्रृंगारिक पक्ष कम है, लेकिन आजकल यह मान्यता धीरे–धीरे बदल रही है। आजकल लोक साहित्य का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। कल्पना पक्ष से उद्‌भूत इस साहित्य के महत्त्व को बहुत से विद्वान सराहते हैं, इसलिए लोक साहित्य आजकल प्रसिद्ध विधाओं में से एक है। तमिलनाडु के लोकगीत और लोकनृत्य विश्व–विख्यात हैं। शहरी वातावरण की अपेक्षा ग्रामीण वातावरण में इसका प्रचलन अधिक है। आजकल कम्प्यूटर, दूरदर्शन, वीडियो आदि साधनों के उपलब्ध होने के कारण ग्रामीण लोकगीत, ग्रामीण लोकनृत्य आदि मनोरंजन के अनेक साधन हमें मंत्रमुग्ध किए हुए हैं। लोक साहित्य में श्रीराम की कथा, श्रीकृष्ण की कथा, तेनाली रामन और मर्यादारामन की कथा इत्यादि कही जाती है जिसे सुनने के लिए गाँववाले रात भर इकट्ठे होते हैं।

शारीरिक श्रम और चिन्ताओं को भूलकर वे इन कथाओं को सुनते हैं और उत्साह से भर उठते हैं। लोक साहित्य का ही एक विकसित रूप है 'कथाकालक्षेपम्। 'कथाकालक्षेपम्' में पौराणिक कथाओं को ग्रामीण लोग श्रद्धा और भक्ति से सुनते हैं। त्योहार और उत्सव के समय गाँव के लोग मिलकर सड़क पर नाटक खेलते हैं। इसे 'तेरुकूत्तु' कहते हैं। तमिलनाडु की प्रसिद्ध 'तेनालीरामन' और 'मर्यादारामन' की मनोरंजक कहानियों को लेकर गाँव वासी जगह–जगह नाटकों का आयोजन करते हैं। वास्तव में 'नुक्कड़–गीत' को ही 'तेरुकूत्तु' कहते हैं। गाँवों में 'तेरुकूत्तु' बहुत ही प्रसिद्ध है। बच्चों से लेकर बड़े–बूढ़े तक इस तेरुकूत्तु में भाग लेते हैं। रात भर यह कार्यक्रम चलता रहता है।

ग्रामीण वातावरण में अनेक संदर्भों में लोगों द्वारा यह लोकगीत गाया जाता है। ये लोक गीत लोगों को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य करते हैं। यह लोकगीत "नाट्टुप्पुरप्पाडल" के नाम से भी प्रसिद्ध है। हर एक प्रदेश के लोकगीत उस गाँव के रीति–रिवाज, आचार–व्यवहार और वहाँ की संस्कृति को दर्शित करते हैं। गीत में राग, लय, छंद इत्यादि बहुत ही सरल होते हैं। किसान लोग बीज बोते समय, फसल काटते समय, घास–पात उखाड़ते समय गीत गाते हुए कार्य करते हैं। अलग–अलग गीत अलग–अलग छंद में रचित होते हैं।

लोरी को तमिल में 'तालाट्टु' कहते हैं। यह ताराट्टु शब्द से विकसित हुआ। बच्चों को सुलाने के लिए ग्रामीण और शहर के लोग इस विधा को अपनाते हैं। 'तालाट्टु' को तमिल के एक विशेष राग में गाते हैं। 'तालाट्टु' लोक साहित्य का एक विकसित रूप है। ये गीत सरल होते हैं। इनमें पंक्तियाँ ज्यादा या कम हो सकती हैं। इनका कोई लाक्षणिक नियम नहीं होता, परन्तु इन गीतों को गाने से हमारा मन आनंद से झूम उठता है। ये गीत या तो घर में गाये जाते हैं या फिर खुली जगह में गाये जाते हैं।

'तालाट्टुपाडल' सारी दुनिया में गाया जाता है। माँ अपने बच्चे को सुलाने के लिए यह गीत गाती है। हिन्दी में इसे 'लोरी' गीत कहते हैं। माँ अपने मनोभावों को सुन्दर शब्दों में प्रकट करती है। इस 'तालाट्टु' को सुनकर बच्चे सो जाते हैं।

लोक साहित्य में विशेष स्थान 'करगाट्टम' और 'मयिलाट्टम' विशेष रूप से प्रसिद्ध है। हिन्दी में इसे घट–नृत्य भी कहते हैं। मयूराकार में बने कृत्रिम घोड़े को लेकर जो नृत्य करते हैं उसे मयूराट्टम या 'मयिलाट्टम' कहते हैं। इस नृत्य में स्त्री–पुरुष दोनों ही भाग लेते हैं। गाँव के लोगों में एकता स्थापित करने का यह सर्वोत्कृष्ट नमूना है, विशेषकर घट–नृत्य में स्त्रियों का नृत्य दर्शनीय होता है।

लोकनृत्य का दूसरा रूप 'जेल्लिकट्टु' है। यह साँडों का खेल है। गाँव के धनी लोग इस 'जेल्लिकट्टु' के लिये ही साँडों को पालते हैं। सींगों को तराश कर उसमें पुरस्कार के रूप में विशेष नगद रुपये बाँध देते हैं। जो वीर साँडों को अपने वश में कर लेते हैं, वे ही पुरस्कार के रूप में उस नगद राशि को हासिल कर लेते हैं। उन वीरों का विशेष रूप से सम्मान किया जाता है।

तमिल साहित्य और लोक कथा में इस "जेल्लीकट्टु" का विशेष स्थान है। इसे प्राचीन साहित्य में "ऐरुतळुवल" कहा गया है, लेकिन खेद का विषय है कि आजकल इन साँडों को शराब पिलाकर उकसाया जाता है और तंग करते हुए नाना प्रकार के हिंसात्मक और घिनौने कार्य प्रदर्शित किए जाते हैं। यह सचमुच साँडों के प्रति अन्याय है। प्राचीन काल में जो भव्य खेल था, वह आज घिनौना कार्य बन गया है। इसलिए सरकार ने जानवर रक्षा अदालतों के माध्यम से इस 'जेल्लीकट्टु' पर रोक लगा दी है।

आशा है कि भविष्य में ग्रामीणवासी और अन्य लोग इस 'जेल्लीकट्टु' को शिष्ट और अच्छे ढंग से मनाने का काम करेंगे। यह खेल मदुरै के निकट 'अलंगानल्लूर' गाँव में आज भी उत्साह के साथ आयोजित किया जाता है। 'ओप्पारी' प्रसिद्ध शोकगीत है। गाँव की स्त्रियाँ सामूहिक रूप से मृत व्यक्ति का गुणगान करते हुए रोते हुए जोर–जोर से गाती हैं। इसे नीलाम्बरी राग में गाते हैं।

फसल काटते समय या बीज बोते समय सभी स्त्रियाँ पंक्तिबद्ध होकर जो गीत गाती हैं वह आज भी गाँवों में प्रसिद्ध हैं। इसे "तोळिल–पाडल" कहते हैं। परिवेश या संदर्भ के अनुसार पंक्तियाँ ज्यादा या कम होती हैं। गतिविधि या कार्य अनुसार ये घर में या खुली जगह में गाये जाते हैं। थकान को दूर करने या कठिन काम करते वक्त स्त्री और पुरुष दोनों ही यह गीत गाते हैं। गीत गाते समय वे अपनी थकान भूल जाते हैं।

इन गीतों में दाम्पत्य जीवन का वृत्तांत, खाने की रीति, आचार–व्यवहार, अनुभव एवं सामाजिक रिश्ता उभरा रहता है। किसान बीज बोने के पहले अपने देवताओं की वंदना करते हैं। खेत में बीज बोते समय, फसल काटते समय और घास–पत्ते उखाड़ते समय स्त्री पुरुष दोनों ही समूहबद्ध गाते हैं। इससे दिन भर काम करने पर भी वे थकान का अनुभव नहीं करते। मशीनों के आने से श्रमिकों और किसानों का काम आजकल थोड़ा कम हो गया है, इसलिए वे थकते नहीं। आजकल ये गीत धीरे–धीरे लुप्त होते जा रहे हैं।

'करगाट्टम' में पीतल का छोटा घड़ा सिर पर रखकर नाचते हैं। घड़े के ऊपर फूलों से अलंकृत टोकरी उल्टी दिशा में रखी जाती है। घड़े का निचला भाग अर्द्धगोलाकार रूप में होने से सावधानी से नाचना पड़ता है, क्योंकि हाथ से घड़े को पकड़ना वर्जित है। भूमि की आकर्षण शक्ति को समझकर सावधानी से एक सीमा के अंदर कूदकर, झुककर, लांघकर नाचते हैं। गर्गर को जरा भी नहीं हिलाते, अन्यथा घड़े के गिरने का डर होता है। केवल कंधे को हिलाकर तालानुसार नाचते हैं।

"कावडियाट्टम" गीत धार्मिक संप्रदाय पर आधारित है। प्रार्थना के रूप में कावडि लेकर नाचते हुए

मंदिर जाते हैं। लकड़ी को धनुष के आकार में मोड़कर बीच में एक लकड़ी के सहारे जोड़ते हैं और रंग–बिरंगे कागज से उसे सजाते हैं। दोनों ओर मोर पंख और छोटे–छोटे कलशों को बाँधते हैं। फिर उसे कंधे पर रखकर नाचते हैं। "तै–पूशम" त्योहार के समय यह नृत्य प्रसिद्ध है। तमिलनाडु के पलनी तथा विदेशों में मलेशिया तथा सिंगापुर आदि स्थानों में भी यह नृत्य गीत बड़े जोश और उमंग से गाते हैं। 'कावडि' ढोने वाले जीभ और ओठों पर भी छोटी–छोटी बद्दार्यें छेदकर देवता मुरुगन का नाम लेते हुए जाते हैं। "नैयाण्डि" नामक ढोल की ताल के अनुसार वे नाचते हैं।

"कोलाट्टम" भी तमिलनाडु का एक प्रसिद्ध सामूहिक लोकनृत्य है। यह आंध्रप्रदेश में भी प्रसिद्ध है। गुजरात में इसे 'डांडिया' के नाम से जाना जाता है। तमिल में 'कोल' लकड़ी को कहते हैं। नवरात्रि उत्सव के समय स्त्रियाँ गोलाकार इकट्ठी होकर दो छोटी रंगीन छड़ियों को लेकर खड़ी होती है। छड़ी दो प्रकार की होती हैं लाल और हरी। 'पिन्नल कोलाट्टम' भी बहुत ही प्रसिद्ध है। नाच–नाचकर रस्सी का जूड़ा बनाकर फिर उसे खोलते हैं। यह बहुत ही कठिन नृत्य है, जिसे करने के लिए अभ्यास की जरूरत होती है। इसके लिए पौराणिक कथा पर आ धारित गीत लिखे जाते हैं।

निष्कर्षः– लोक साहित्य और लोककलाएँ ऊर्जा का भंडार हैं। प्रायः सभी देशों के विशिष्ट साहित्यों ने समय–समय पर लोक साहित्य से नई ऊर्जा प्राप्त की है। तमिल का प्रबंधकाव्य 'शिलप्पदिकारम' भी इसका अपवाद नहीं है। इस कथा की नायिका कण्णकि है। उसकी कथा लोकगाथा के रूप में आज भी जनसाधारण के बीच प्रचलित है। कवि इलंगो ने इस काव्य की रचना की। आज भी श्री लंका में मट्टुकलप्पु नामक स्थान में लोग कण्णकि से संबंधित कई लोकगीत गाते हैं। कवि इलंगो ने तमिलनाडु के पूर्वकालीन लोकनृत्य, लोकगीत आदि के महत्व को समझकर अपने काव्य "शिलप्पदिकारम" में समुचित स्थान दिया। उन्होंने अनुभव किया कि इन लोकगीतों और लोकनृत्यों में तमिल संस्कृति का जीवन प्राण बसता है। साहित्य अकादमी सभी सम्भव साधकों द्वारा रचित भारतीय लोक साहित्य को प्रोत्साहन भी देती है, जिसमें लोकनृत्य और लोकगीत के लिए पुरस्कार देना, सम्मेलन आयोजन करना, अपनी पत्रिकाओं में लोककथाएँ प्रकाशित करना और लोक–साहित्य पुस्तकों को प्रकाशित करना भी शामिल हैं। सभी कलाएँ जीवन के अनुभवों और दैनिक भावनाओं से जुड़ी हुई होती हैं। ये कलाएँ जहां कलाकार के जीवन का व्यवसाय बनती हैं, वहीं त्योहारों के दौरान मंदिरों में इन भावनाओं को भी उभारती हैं।

*****

सच्चरित्र का महत्व

अच्छे चरित्र का मानव जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। सच्चरित्र व्यक्ति का उत्थान होता है और दुश्चरित्र व्यक्ति पतन के गर्त मैं समा जाता है। रावण शक्तिशाली सम्राट था, किंतु दुश्चरित्र माना गया।। श्री राम वनवासी थे, किन्तु चरित्रवान थे, अत : वे रावण का नाश करने में सफल हुए। धन संपदा, वैभव आदि तो आते–जाते रहते हैं। परन्तु चरित्र की हानि एक ऐसी हानि होती है कि एक बार हुई तो फिर उसकी भरपाई नहीं होती।

आयुर्वेद

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानन्च तच्च यत्रोक्तार्युदः स उच्यते।।

– चरक

''जिस शास्त्र में हित–अहित, सुख–दुख, आयु एवं आयु के लिए उपयोगी–अनुपयोगी द्रव्य गुण–कर्म आदि के प्रमाण एवं लक्षण का विवेचन–विश्लेषण होता है, उसका नाम आयुर्वेद है।''

दो यात्रा, दो बिंब, एक फल

डॉ गरिमा संजय दुबे
वंदना नगर एक्स.
इंदौर, मध्य प्रदेश

जीवन एक यात्रा ही तो है और इस यात्रा के न जाने कितने पड़ाव हैं। मनुष्य कैसे इन पड़ावों को पार करता है, इसका निर्धारण यात्रा की समाप्ति पर ही हो सकता है। वैसे यात्रा का कोई अंत नहीं। देह की यात्रा समाप्त होती है तो अनंत की यात्रा का प्रारंभ होता है। आषाढ़ और श्रावण माह यात्राओं के माह हैं। क्या ही संजोग है, या पूर्व निर्धारित सुचिंतित परंपरा, कि अमरनाथ और जगन्नाथ की यात्रा भी इसी आषाढ़ में प्रारंभ होती है।

अमरनाथ की यात्रा में यात्री अमरनाथ महादेव को सृष्टि संचालन के लिए जगाने जाते हैं, तो जगन्नाथ यात्रा में सृष्टि संचालन से क्लांत जगन्नाथ को सुलाने की भाव यात्रा होती है। यूं वो परम सत्ता कब सोती है, कब उसे विश्राम है, संसार के कार्य उसे विश्राम लेने कहां देते हैं। किंतु फिर भी, हिंदू सनातन परंपरा में सगुण भक्ति की जो भाव धारा है, वह इतनी प्रबल है कि वह अपने ईश्वर को अपने समान मानती है। उसके लिए ईश्वर किसी दूर की सत्ता नहीं, वह हमारी ही तरह जीवंत तत्व है वह रूठता है, क्रोधित होता है, बीमार होता है, जागता है, सोता है, विश्राम करता है। इसलिए यह संस्कृति भक्त को भी यह पूरा अधिकार देती है कि वह रूठ जाए। क्रोध में ईश्वर को अपशब्द कहने का अधिकार देती है सनातन संस्कृति। हमारी लोक कलाओं में और लोक गीतों में ईश्वर को उल्हाना देने की स्वस्थ परंपरा है, इसलिए वह आसानी से आहत नहीं होती, उसकी जड़ें जीवन जितनी ही गहरी हैं, और अनंत जितनी विस्तृत थी।

आषाढ़ की महिमा यूं भी गाई जाती है, जेठ से त्रस्त, तप्त, आकुल हृदय आषाढ़ की बूंद की प्रतीक्षा में रहते हैं। एक माह जब अमरनाथ और जगन्नाथ दोनों का पूजन होता है। अहा! कैसा अद्भुत दृश्य बन पड़ता है। जब क्षीरसागर के किनारे बसी जगन्नाथ की नगरी पुरी में जहां एक और रथ यात्रा के बहाने ईश्वर को कार्यमुक्त कर उसके शयन का सुंदर, भव्य एवं नयनाभिराम आयोजन होता है, तो वहीं दूसरी ओर सुदूर हिमालय में समाधिस्थ आदि योगी महादेव को संसार का भार सौंपने की, कर्त्तव्य याद दिलाने की यात्रा प्रारंभ होती है। भक्तों के लिए सब कुछ करने वाले भगवान के लिए यह आयोजन, भक्ति और समर्पण भाव से भक्त करते हैं। इन दोनों यात्राओं में, जिनमें एक में शयन का और दूसरे में जागरण का आवाह्न होता है, उसमें भक्त भावविहल हो जाते हैं। वे एक मां की तरह लोरी गा कर अपने नाथ को थपकियां देकर सुलाने का जतन करते हैं। कभी सुनकर देखिएगा पुरी में गाए जाने वाले भजनों की लय और ताल, ऐसा लगता है जैसे शिशु के मस्तक पर पड़ने वाली नरम हथेलियों की थपकियां, दिन भर में थके अपने शिशु को संभालती मां का भाव लिए भक्त अपने पिता के शयन की व्यवस्था करते हैं। वे गोद में ले उन्हें दुलारते हैं, हाथ के स्पर्श से उनका ताप हरते हैं और रोगी होने पर वत्सल भाव से उनकी पीड़ा हरने का जतन करते हैं। जगन्नाथ पुरी रथ यात्रा के दौरान मातृ भाव से संचालित होती है, शिशु वत तीनों भइया बहनों पर स्नेह वात्सल्य लुटाती ।

उनका रथ खींचते हाथ स्वयं के भव सागर से पार होने की अनुभूति से आह्लादित होते हैं। विशाल जन मैदिनी किस तरह पार लग जाती है, कोई नहीं जानता। सबको दर्शन, सबको प्रसाद कैसे मिल जाता है, कौन दे जाता है, नहीं पता। यात्राएं इसी तरह के

कौतुक रचती हैं। जीवन यात्रा भी तो किसी कौतुक से कम नहीं, चले चलो जीवन रथ खींचते हुए, कहीं तो पहुंचोगे। हां, खींचने में विषाद न हो, अवसाद न हो, आह्लाद हो, जैसे जगन्नाथ का रथ खींचते हुए होता है तो अपने जीवन रथ को जगन्नाथ का रथ मान लेने से बोझ नहीं, भजन लगेगा जीवन। तो कहा जा सकता है कि, लक्ष्य की पूर्णता का पर्याय है, यात्रा। ऐसा लगता है जैसे संपूर्ण ब्रह्मांड ने राग यमन छेड़ दिया हो, और उस राग यमन को सुनते सुनते धीरे–धीरे जगन्नाथ अपनी योगनिद्रा में लीन हो जाते हैं। संगीत ईश्वर को साधने की कला ही तो है।

धरती के दूसरे छोर पर महादेव के जागरण की त्वरा लिए, आंखों में अश्रु, रोमांच, स्वेद लिए भक्त पहुंचते हैं अमरनाथ। अपने साथ संसार को संभालने की प्रार्थना लिए। महादेव को जगाने के लिए दसों दिशाओं में गूंजता है राग भैरवी, जो चैतन्य कर देता है महादेव को। जो समाधि में भी जागृत हो, उसे जगाने का बल भैरवी में है भला? किंतु फिर भी भक्तों का मान रखते हुए सोने जागने का अभिनय करते हैं भोलेनाथ। उनके मित्र, सखा अब योग निद्रा में हैं, तो वे समाधी में कैसे हो सकते हैं। उन्हें तो संभालना है न अब संसार। सजग हो, चैतन्य हो, खंगाल लेते होंगे पुराने बही खाते और बना लेते होंगे नए, कि जब जागेंगे श्री विष्णु तो सौंप जायेंगे चौमासे का हिसाब किताब। अब श्री हरि का जागना तो पुरुषोत्तम मास कार्तिक में ही होगा न। तब ही होगा उनसे मिलना, तब तक शिव ध्यायेंगे उन्हें, और श्री हरि योग निद्रा में भला किसको पूज रहे होंगे? वे शिव ही होंगे वहां, श्री हरि के ध्यान में। दोनों रहेंगे एक दूजे के ध्यान में और उनके ध्यान में होगा यह संसार। वह तत्व नेत्र मूंदे भी इस संसार को देखता है, किंतु यह संसार क्या खुले नेत्रों से भी उन्हें देख पाता है भला? उन्हें देखने, उनके दर्शन के लिए तो स्थूल नेत्रों का बंद होना और सूक्ष्म नेत्रों का खुलना आवश्यक है ।

मैदान से चलने वाली और हिमालय के शिखर को छूने वाली यह दोनों यात्राएं प्रतीक हैं मूलाधार से सहस्त्रार तक की यात्रा की, जीव के चैतन्य होने का, उसकी कुंडलिनी के जागरण का, चौमासे के व्रत, नियम, उपवास, ध्यान, भजन पूजा उसी शिव तत्व का आह्वान है। विष्णु जीवनी शक्ति हैं, तो शिव परा तत्व। विष्णु ने सदा देह रूप लेकर मानव देह की स्थूल रूप में सार्थकता को परिभाषित किया है और वे सदा शिव को भजते रहें हैं। जीवन की यह यात्रा उस शिव तत्व, परम तत्व तक पहुंचे बिना अधूरी है। विपरीत दिशाओं में होने वाली यह यात्रा वस्तुतः जीवन की ओर, भौतिकता की ओर दौड़ती स्थूल काया और परम तत्व की अभिलाषी आत्मा के बीच का अतरद्वंद है। देखा जाए तो द्वंद केवल बाहरी है। पुरी में रथ खींचते हाथ भी पूर्णता और सूक्ष्म की अनुभूति पाते हैं, और अमरनाथ की तरफ यात्रा करने वाले पग जीवन की सार्थकता का आभास कराते हैं। एक तरफ राग यमन की सृष्टि है, तो दूजी ओर राग भैरवी का गूंजता स्वर। श्री हरि के शयन का जतन है तो महादेव के जागरण का आह्वान। हेतु दोनों का एक है, अभीष्ट हर भक्त का समान, जीवन की सार्थकता और आत्मा का साक्षात्कार ।

सिद्धियाँ दोनों ही रूप में बिखरती हैं, अनुभूतियाँ दोनों ही जगह एक समान। नैनों में अश्रु, हृदय में रोमांच, देह पर उभरे स्वेद कण, रीढ़ में बहता नाद, इन यात्राओं का अभीष्ट फल है। जो गया है, उसने जाना है, मेरे जैसा जो जा न सका, वह दृश्य की कल्पना मात्र से रोमांचित हो उठता है ।

लेखकों व कवियों ने आषाढ़ को उद्दीपन की ऋतु कहा है। महाकवि कालिदास से लेकर मोहन राकेश तक ने आषाढ़ को विरह और प्रेम का कारक कहा है। आषाढ़स्य प्रथम दिवसे कहते हुए विरह की सृष्टि करते हैं महाकवि। दैहिक रुप से उद्दीपन और

आध्यात्मिक रूप से संयम के विपरीत ध्रुव की यात्रा भी है आषाढ़।

तो दो यात्रा, दो बिंब, दो दिशाएं, दो देव, दोनों विपरीत, किंतु फिर भी एक। एक रज तत्व वाला छलिया, दूजा सत में स्थित बैरागी, एक के लिए संसार जतन करे, रथ बनाए, खिलाए, पिलाए, झुलाए, सजाए, दूजा अपना रूप स्वयं बनाए। एक संसार की वस्तुओं से आकार पाए (यद्यपि संसार भी बनाया उसने ही है) और दूजा प्रकृति से अपना श्रृंगार करे, दोनों ही सही हैं। जैसे यह संदेश दे रहे हों कि जितना महत्व सांसारिक वस्तुओं का, स्थूल परंपराओं का है, उतना ही महत्व प्रकृति, आत्मा, चैतन्य, सूक्ष्म तत्व का। दो विपरीत दिशाओं की ओर एक समय पर की जाने वाली यात्राएं मुझे तो जीवन के संतुलन और सार्थकता का संदेश देती प्रतीत होती हैं। जैसे समान शक्ति वाले चुंबकों से स्थिर की हुई कोई वस्तु अपना संतुलन नहीं खोती, वैसे ही इन दो विपरीत तत्वों का परस्पर सामंजस्य जीवन को सार्थकता देता है।

जगन्नाथ अपने प्रसाद से सबको तृप्त करते हैं। कृष्ण स्वरूप जगन्नाथ और शेष विग्रहों का पूजन वैष्णव विधान से किया जाता है। शिव को शैव पद्धतियां ही सुहाती हैं। कृष्ण ने कभी कुछ छोड़ा नहीं, किंतु न छोड़ते हुए भी वे किसी से बंधे नहीं। जगन्नाथ भी अपने भक्तों के प्रेम से बंध जाते हैं और उन्हें मुक्त कर देते हैं। प्रभास क्षेत्र में कृष्ण की देह त्याग की लीला में, देह के साथ हृदय पंच तत्वों में लीन नहीं हुआ था, वही हृदय 'ब्रह्म पदार्थ' बन धड़कता है जगन्नाथ की काष्ठ प्रतिमा में। कहीं काष्ठ में, कहीं हिम में वही चैतन्य तत्व तो श्वास लेता है। उसी जागृत हृदय का वात्सल्य भिगो देता है सबको अपनी नमी से, और हर लेता है ताप। भाई बहनों संग यात्रा कर, समृद्ध हृदय से सबको समृद्ध करते हैं जगन्नाथ, और जगन्नाथ की यात्रा करती विशाल जनमैदिनी पा लेती है आध्यात्मिक समृद्धि का आशीर्वाद।

प्रत्यक्षतः कुछ नहीं त्यागने वाले वैकुंठ के वासी जगन्नाथ जीवन के सुख दुःख में सहज ही जीवन का संदेश देते हैं, सबके साथ भी मुझे पा लोगे, वे घिरे दिखते हैं नातों रिश्तों से, स्त्रियों से, कर्तव्यों से, समृद्धि से, किंतु कहीं भी बंधे नहीं हैं। वे त्यागी नहीं दिखते शिव की तरह, किंतु हैं त्यागमूर्ति। उन्हें तो सृष्टि पर जीवन की समृद्धि का संदेश देना है। यदि सब संन्यासी हो जाएं तो चक्र चले कैसे, इसलिए अपनी पूरी समृद्धि के साथ प्रकट होते हैं जगन्नाथ।

अमरनाथ की गुफा में पंच तत्वों का त्याग कर पार्वती को कथा सुनाने पहुंचे थे महादेव, वैकुंठ वासी अपने मित्र से उलट त्यागी संन्यासी दिखते हैं, सब त्यागते चलते हैं, चंद्र को भी त्याग दिया था एक बार, उस शिव तत्व की साधना के लिए त्याग अनिवार्य है। उस ऊंचाई तक, अमरनाथ तक पहुंचना त्याग के बिना संभव नहीं। अमरनाथ की यात्रा त्याग का घोष है, शिव यहाँ अकेले हैं, स्वयंभू हैं, उनका निर्माण कोई कर नहीं सकता। अजन्मा, अगोचर स्वयं कोई रूप धरे तो धरे, किसी में इतना सामर्थ्य कहां जो उनका विग्रह बना सके। अमरनाथ प्रकृति के जीवन पर नियंत्रण की यात्रा है, जहां हर क्षण 'कोई नियंता है' का भाव प्रबल है। जगन्नाथ पुरुषार्थ की यात्रा है, जहां नियंता के साथ साख्य भाव से पुरुषार्थ से जीवन आकार लेता है। जगन्नाथ का रथ, विग्रह बनाए जाते हैं। कैसी उलटबांसी है जिसने मनुष्य को रचा, वही मनुष्य भगवान को बनाने चला है। ईश्वर मनुष्य के हाथ सौंप देता है स्वयं को, कि जैसा चाहे बना ले, मैं तो तेरे भाव के जैसा ही बन जाऊंगा, जगत का पालन करने वाले में इतनी उदारता यदि न हो तो वह कैसे पाले अपनी इतनी संतानों को। पुरुषार्थ का बल हो तो ईश्वर स्वयं प्रेरणा देता है।

जगन्नाथ यात्रा एक तरह से मनुष्य की जिजीविषा, उसके प्रयासों का जयघोष है, वह मनुष्य को अपनी शक्ति का आभास करवाने की यात्रा है, खींचो मेरे रथ को, ताकि खींच सको अपना जीवन रथ भी, देखो ईश्वर को यात्रा करवा सकते हो, तो क्या स्वयं की यात्रा का आयोजन सम्पन्न नहीं कर सकते, करो, कर सकते हो।

वहीं अमरनाथ परम सत्ता की उपस्थिति का गान है, चलो तो, शिखर की यात्रा प्रारंभ तो करो, मैं हूँ ना का आश्वासन, जीवन की यात्रा, संकल्प पूर्ण हो गए हों तो इस यात्रा का प्रारंभ भी करो। दोनों एक दूजे के बिना अधूरे हैं। पुरुषार्थ को परम सत्ता का सहयोग मिले तो हर यात्रा अपनी नीयती को पा ले, वहीं परम सत्ता भी तो खोजती है निमित्त, जिसके माध्यम से जीवन की, सृष्टि की यात्रा को पूर्णता दे दे।

जगन्नाथ और अमरनाथ यात्रा श्रेय और प्रेय मार्ग का भी प्रतिनिधित्व करती है, स्थूल काया को चलाने हेतु, कर्तव्य निभाने के लिए जीवन रथ तो खींचना ही होगा, किंतु यह विश्वास रहे कि रथ में तो स्वयं जगन्नाथ ही हैं, तो जीवन यात्रा सरल होगी। जीवन की यात्रा में तो सबको साथ लेना होगा, सबका सहयोग लेना होगा, सबके साथ होगी, अकेले के बस की नहीं, निभाने हैं न दायित्व, पूरे करने हैं कर्तव्य, अकेले कैसे कर सकोगे, तो मिलकर खींचों रथ। किंतु शिव तत्व की यात्रा तो अकेले करनी होगी, किसी रथ का बोझ थोड़ी ले जा सकोगे। आध्यात्मिक यात्रा की दुर्गम राह, कठिन चढ़ाई, कभी निराश भी करे, किंतु मन में आस हो कि इस यात्रा का प्राप्य स्वयं विश्वनाथ हैं, अमरनाथ हैं, तो यात्रा क्यों क्लांत करे भला! श्रोगियों अशक्त जनों को चमत्कारिक ढंग से इन यात्राओं को पूरा करते देखा है। इन यात्राओं को करते समय जो भाव, जो आस्था होती है, वही भाव और आस्था यदि जीवन की स्थूल यात्रा में जाग सके तो यात्री का अभीष्ट सिद्ध हो।

जगन्नाथ के प्रसाद में खिचड़ी सहित तमाम वस्तुओं का भोग लगता है। समृद्ध स्वादिष्ट रसोई, न भक्त थकते हैं प्रसाद पाते, न भगवान थकते हैं प्रसाद देते,, 'सकल पदारथ एहि जग माही, करमहीन नर पावत नाहीं' जैसे कह रहे हों कि लगाओ जोर, खींचों रथ, करो पुरुषार्थ, सब मिलेगा संसार में ही। वहीं अमरनाथ में प्रसाद नहीं है, अमरनाथ का दर्शन ही स्वयं प्रसाद है, अमरनाथ के दर्शन के बाद भी किसी प्रसाद की आकांक्षा शेष रह जाए तो समझिए यात्रा अभी शेष है।

जगन्नाथ की यात्रा यदि समस्त कर्मों का फल है, तो अमरनाथ की यात्रा फल की कामना से भी मुक्त कर देती है। दोनों यात्राएं भिन्न रूपक, भिन्न बिंब के पश्चात भी मनुष्य की उस जीवन यात्रा का ही तो प्रतिनिधित्व करती हैं जहां उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करनी है।कोई पुरुषार्थ के फल की कामना से संचालित होता है, तो कोई फल की कामना से मुक्ति की कामना से। एक समय होने वाली दोनों यात्राएं यही सन्देश देती हैं कि मनुष्य को समय–समय पर दोनों ही यात्राएं करनी चाहिए, ताकि जीवन यात्रा का उद्देश्य सफ़ल हो।

*****

चाणक्य के अनमोल वचन

1. जब व्यक्ति दूसरों की गलतियों से सीख लेता है तो वह कभी मात नहीं खाता। इसलिए सफलता प्राप्ति के लिए दूसरों का अनुभव जानने में संकोच न करें।
2. ऐसा धन किसी काम का नहीं जिसके लिए धर्म का त्याग करना पड़े, क्योंकि धर्म को हमेशा धन से ऊपर रखना चाहिए। वहीं जिस पैसे के लिए दुश्मनों की खुशामद करना पड़े, अपने अभिमान से समझौता करना पड़े, उसका मोह करना सबसे बड़ी मूर्खता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने अस्तित्व के साथ मान–सम्मान भी खो देता है।

इस्लाम और पर्यावरण

डॉ. मोहसिन खान
जे. एस.एम. महाविद्यालय,
अलीबाग, महाराष्ट्र

संपूर्ण विश्व में जितने भी धर्म और संप्रदाय हैं, वे समस्त पर्यावरण की अनादि कालीन चेतना, भौतिक स्थिति से लेकर वर्तमान तक की अवस्था में पर्यावरण के मध्य जन–जन में फले–फूले और विकसित हुए। धर्म वास्तव में पर्यावरण के बीच से ही निकली हुई एक ऐसी आस्था है जिसने ईश्वरीय–शक्ति को पहचाना और उसमें पर्यावरण के तत्वों को समाहित करके धर्म और पर्यावरण का अनूठा संगम भी स्थापित कर दिया। कोई भी धर्म पर्यावरण के बिना पोषित नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि धर्म और धर्म के अनुयायी पर्यावरण के बीच रहकर ही अपनी समस्त धार्मिक गतिविधियों, क्रियाकलापों इत्यादि को अपनी पूर्णता में पहुंचा पाते हैं। यदि पर्यावरण का तत्व धर्म से विलग कर दिया जाए तो फिर धर्म एक अव्यावहारिक स्थिति में आ जाएगा और फिर हम केवल एकांगी रूप में धर्म के कुछ तत्वों को ग्रहण कर पाएंगे। वास्तव में अगर कहा जाए तो धर्म और पर्यावरण का गहन संयोग ही धर्म की पूर्णता को दर्शाता है। यदि पर्यावरण न हो तो शायद मनुष्य भी नहीं बचेगा और फिर उसका धर्म भी नहीं बचेगा। मूलभूत अवस्था में यदि हम सूक्ष्म रूप से गहराई में जाएं तो स्पष्ट ही हो जाएगा कि पर्यावरण के बिना किसी भी तरह का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है', अर्थात् जब–जब पर्यावरण को खतरा आएगा, तब–तब धर्म पर भी खतरा मंडराएगा। विश्व के प्रत्येक धर्म में पर्यावरण के तत्व, तथ्य और भौतिक प्रमाण मौजूद हैं, जिनको हमें अत्यंत विस्तृत धरातल पर देखना चाहिए। विश्व का ऐसा कोई भी धर्म नहीं जहां पर पर्यावरण की बात न की गई हो, अर्थात्, धर्म को एक बड़ा आधार पर्यावरण ही देता है और धर्म में पर्यावरण के प्रति दायित्व, कर्तव्य, बंधन, नैतिक उपदेश भी हमें कई स्थलों पर प्राप्त होते हैं। इससे हमें पता चलता है कि धर्म पर्यावरण पर ही आधारित एक ऐसी आध्यात्मिक अवस्था है जिसमें वह पोषित और पल्लवित हो सका।

विश्व के प्रमुख धर्मों के साथ इस्लाम भी अपनी महत्ता विश्व के प्रमुख धर्मों के बीच रखता है और इस्लाम में इन बातों का विशेष ध्यान रखा गया है कि हमें पर्यावरण का नुकसान नहीं करना है, बल्कि हमें पर्यावरण के बीच रहते हुए और उसे बचाते हुए अपने समस्त धार्मिक कृत्य करने हैं। इसलिए इस्लाम इस बात के लिए सचेत भी करता है कि कभी भी ऐसा कोई कदम न उठाया जाए जिससे जमीन, जीव, वनस्पति इत्यादि का बेजा नुकसान हो। इस बात के संकेत पवित्र कुरान शरीफ में कई जगहों पर मिल जाएंगे, साथ ही साथ इस्लाम की हिदायतों की कई पुस्तकें, जिन्हें हदीस कहा जाता है, में भी पर्यावरण की शिक्षाएं, पर्यावरण के प्रति दायित्व, पर्यावरण के प्रति सजगता,पर्यावरण के मूल्य और पर्यावरण की रक्षा के तथ्य मिलते हैं। भारतीय संदर्भ में यदि इसकी तलाश की जाए तो भारतीय मुसलमानों पर भारतीय धर्मों का भी विशेष प्रभाव पड़ा है और उनमें पर्यावरण चेतना का विशेष रुप से प्रभाव देखा जा सकता है। वह इस्लाम की दी हुई हिदायतों को तो पर्यावरण के संदर्भ में मानते ही हैं, साथ ही हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, पारसी, ईसाई इत्यादि धर्मों में पर्यावरण के संदर्भ में उपदेशात्मक रूप में कही गई बातों को भी इस्लाम के अनुयायी मुसलमान निरंतर

मानते चले आए हैं और उनके प्रति उन्होंने आस्था भी प्रकट की है।

इस्लाम में पैगंबरों का होना माना गया है और पैगंबरों ने इस्लाम के संदर्भ में बहुत सरलता से जनसंदेश दिया है। इन जनसंदेशों में कई स्थलों पर पर्यावरण का जिक्र भी आया है, जिनमें नदी, पशु, पक्षी, फूल, पत्ते, पेड़ समस्त वनस्पति, जमीन, जल इत्यादि के संदर्भ में हमें उनके संरक्षण संवर्धन और उनके प्रति दायित्व भी हमें कई स्थानों पर नजर आते हैं। हजरत पैगंबर की भी इस संदर्भ में एक घटना है–

एक बार की बात है, पैगंबर मोहम्मद साहब अपने काफिले के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में उनके काफिले के एक व्यक्ति ने एक कबूतर के घोंसले से उसका बच्चा उठा लिया। इस बात पर मोहम्मद साहब उस व्यक्ति से सख्त नाराज हो गए। उन्होंने इस कृत्य की भर्त्सना की और कबूतर के बच्चे को बहुत संभाल कर वापस उसके घोंसले में रख दिया। पैगम्बर ने उद्घोष किया, ''आर्द्र हृदय से हर प्राणी के प्रति करुणा करने वालों के लिए अल्लाह ने इनाम की व्यवस्था की है।'' पैगंबर मोहम्मद साहब के जीवन से जुड़ी यह कथा इस्लाम में पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता की ओर इशारा करती है।

1400 साल पहले अल्लाह के संदेश के रूप में प्राप्त इस्लामिक ग्रंथ पवित्र कुरान शरीफ में भी प्रकृति और पर्यावरण के विषय में विशेष रूप से बात कही गई है और हदीसों में जल, जमीन,जीव, जगत, सब के विषय में विस्तार से और बड़ी गंभीरता से लिखा गया है और यह भी बताया गया है कि जीवन में इन सब बातों को स्थान देना चाहिए और हमें इन–इन उपदेशों, इन–इन मूल्यों के माध्यम से अपना जीवन यापन करना चाहिए, क्योंकि जीवन यापन करने का सही और वैज्ञानिक तरीका यही है कि हम पर्यावरण के प्रति सजग होकर उसकी रक्षा करते हुए जीवन जिएं, उसका उपभोग इतना अधिक न करें कि पर्यावरण असंतुलित हो जाए। कई स्थानों पर इस प्रकार की उपदेशात्मक अनुकरणीय बातें आई हैं जिन्हें इस्लाम के अनुयायी मुसलमान कई स्तरों पर मानते भी हैं, क्योंकि उपदेशों में बताया गया है कि यदि हम अपने आसपास की स्थितियों, आसपास की दुनिया से समन्वय नहीं करेंगे तो मानव जीवन खतरे में पड़ सकता है। वैसे भी जहां इस्लाम धर्म की शुरुआत हुई, वहां रेगिस्तान का बहुत बड़ा क्षेत्र है, जहां पेड़, पौधे, फल अन्य जल इत्यादि की तकलीफ और संकट रहा है, इसलिए इस्लाम में विशेष रूप से जल, जमीन, पेड़–पौधे जीव इत्यादि के संबंध में व्यावहारिक धरातल पर विचार–विमर्श करके सारे तथ्य कुरान शरीफ में ईश्वरीय रूप में रखे गए हैं और इस बात के लिए सचेत किया गया है कि तुम्हें इन सब बातों को मानना चाहिए, तब ही जाकर तुम्हारा जीवन सरल, सहज और गतिमय बन सकेगा, वरना जीवन में बहुत सारी रुकावटें आएंगी और एक ऐसी अवस्था आएगी जब जीवन को बचाना कठिन हो जाएगा।

पवित्र कुरान शरीफ में लगभग 1600 आयतें हैं जिनमें से 700 आयतें नबी की सैकड़ों हदीसें और पर्यावरण प्रकृति के बारे में दर्शाई गई हैं। कुरान में धरती शब्द का प्रयोग 485 बार हुआ है और कई स्थलों पर जल के स्रोतों की बात कही गई है। हमें सामान्य रूप में पता है कि इस्लाम में आबे ज़मज़म को बड़ा महत्व दिया गया है। जैसे हिंदू धर्म में गंगाजल को महत्व दिया गया है, उसी प्रकार से इस्लाम में आबेज़मज़म को महत्व देकर उसके सरंक्षण की भी बात कही गई है। जो जल गंगा का पवित्र है, श्रद्धा है जिसके प्रति, करोड़ों हिंदू आस्था दर्शाते हैं, ऐसे ही इस्लाम में आबे ज़मज़म के प्रति लाखों–करोड़ों मुसलमान आस्था दर्शाते हैं और प्रत्येक मुसलमान के यहां अपने घर में आबे ज़मज़म–गंगा जल की तरह ही रखा होता है। इस बात का प्रतीक है कि हमें जल का संरक्षण करना चाहिए और जल को बर्बाद करने की

बजाय उसे संरक्षित करके आगे जीवन में इस्तेमाल के लिए लाना चाहिए। यह एक प्रेरणादायक स्थिति है जिसे व्यावहारिक धरातल पर सभी मुसलमान हिंदुओं की तरह ही अपनाते हैं और वैसा ही प्रयत्न करते हैं जैसे हिंदू धर्म में गंगाजल के प्रति किया जाता है।

पवित्र कुरान शरीफ की आयत क्रमांक 6.38 के अंतर्गत कहा गया है कि–''जमीन पर चलने वाले किसी जानवर और हवा में पंख से उड़ने वाले किसी पक्षी को देख लो, ये सब तुम्हारी ही तरह की जातियां हैं, हमने उनके भाग्य के लेख में कोई कमी नहीं छोड़ी है और ये सबके सब अपने रब की तरफ समेटे जाते हैं।'' इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि मनुष्य की तरह ही समान रूप से सभी प्राणियों को अस्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया है। जितनी महत्ता मनुष्य की है, उतनी ही महत्ता सभी प्राणियों की है, और इसी साझेदारी से ही जीवन चलाया जा सकता है। अलग अलग प्रकार के खाद्य पदार्थ, अलग अलग प्रकार के जीव जंतुओं के लिए रखे गए हैं, और मनुष्य को उनके हिस्से पर कभी अधिकार नहीं करना चाहिए और यह समस्त जीव ईश्वर के द्वारा बनाए गए हैं और वही इनको वापस लेने वाला भी है। कहने का भाव यह है कि इस्लाम में इस बात की ताकीद की गई है कि मनुष्य की तरह ही अन्य जीव–जंतुओं का जीवन है और उन्हें किसी भी दशा में सताना नहीं चाहिए, बल्कि उनकी रक्षा करते हुए उनसे सह–अस्तित्व करते हुए जीवन जीते रहना चाहिए।

हदीस में नबी सल्लल्लाहु अलेह वसल्लम ने फरमाया है कि– कयामत के दिन ईश्वर उस पर दया की नजर रखेगा जिसने अपने जीवन में गौरैया जैसी छोटी चिड़िया पर दया की और उसको मारने से बचा लिया। यह इस बात का प्रमाण है कि इस्लाम में छोटे जीवों और बड़े जीवों के प्रति दया का भाव उपस्थित है और उनके जीवन के सरंक्षण की बात कई स्थानों पर कही गई है। इस्लाम में कुरान शरीफ के अंतर्गत इस बात की भी स्थिति दर्शाई गई है कि यदि कोई मनोरंजन के मद्देनजर अथवा खेल के मद्देनजर किसी परिंदे को हानि पहुंचाता है तो कयामत के दिन जब फैसला होगा तो परिंदा खुद उस व्यक्ति से इंसाफ मांगेगा।

इस्लाम की पवित्र पुस्तक कुरान शरीफ में एक कथा यह भी मिलती है कि एक स्त्री को नरक अथवा दोजक के दुख झेलने पड़े, क्योंकि उसने एक बिल्ली को तब तक बंद रखा था जब तक भूख से मर नहीं गई। दूसरी तरफ एक तवायफ के सारे पाप माफ कर दिए जाते हैं क्योंकि उसने एक बार एक कुत्ते को पानी पिलाया। इस प्रकार की बहुत सी कथाओं से स्पष्ट हो जाता है कि इस्लाम में पवित्र कुरान शरीफ में इस बात की बार–बार ताकीद की गई है कि तुम्हें जीवों के प्रति उदार बनना होगा, उनके प्रति और रहम का भाव मन में रखना होगा। यदि ऐसा न किया गया तो अंतिम समय में जब फैसला होगा तो उसका हिसाब न्याय के साथ किया जाएगा, तब तुम्हें सज़ा इसी संदर्भ में दी जाएगी। अतः स्पष्ट होता है कि उदार, समन्वय, रहम करने वाला जो व्यक्ति होगा, वही वास्तव में इस्लाम के नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति होगा। केवल नमाज़, रोज़ा और हज करने से कोई भी व्यक्ति इस्लाम का अनुयायी तो हो सकता है, लेकिन इस्लाम के बताए हुए रास्तों से विमुख हो तो उसे भटका हुआ ही माना जाएगा। इस्लाम इसीलिए अपनी पवित्र किताब कुरान शरीफ में व्यावहारिक बातों पर अधिक बल देता है तथा आचरण के सुधार में वह जीव दया, जल सरंक्षण, पर्यावरण सरंक्षण इत्यादि की कई स्थानों पर बात करता है।

मुजफ्फर हुसैन ने अपनी किताब 'इस्लाम और शाकाहार' में भी बहुत स्थलों पर इन बातों का उल्लेख किया है कि किस प्रकार से इस्लाम में शाकाहार होने के विषय में भी बात कही गई है। उन्होंने अपनी पुस्तकों में कई ऐसे तथ्य आधारित उद्धरण संदर्भ के रूप में

प्रस्तुत किए हैं जो पवित्र कुरान की आयतों से लिए गए हैं। यह भले ही विवाद का विषय हो सकता है कि इस्लाम में भोजन के लिए जीव हत्या को उचित ठहराया गया है, लेकिन जीव हत्या करने के नियम, कायदे, कानून भी दर्शाए गए हैं और स्पष्ट किया गया है कि हर जानवर आपके खाने के लिए नहीं है, अर्थात् कुछ जानवर हैं, जिन्हें हलाल माना गया है और कुछ जानवर हैं, जिन्हें हराम माना गया है। हलाल जानवरों के अंतर्गत भी पवित्र कुरान शरीफ में कई शर्तों का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख रूप से इस प्रकार से दर्शाया गया है। आयत 5.3 में कहा गया है कि तुम्हारे पर मुर्दार पशु का मांस रक्त और अन्य वस्तुएं हराम हैं जो अल्लाह के अतिरिक्त किसी और का नाम लेकर काटा गया है अथवा तो उसे पीटकर मारा गया है या तो उसकी जान निर्दयता पूर्वक ली गई है या तो किसी अन्य ने उसे कत्ल कर दिया है या ऊपर से नीचे गिर कर मरा है या किसी जंगली जानवर ने उसका कुछ भाग खा लिया है, उसे पत्थर पर काटा गया है, उसकी बलि चढ़ाई गई है या उसे नुकीले तीर से मारा गया है, वह खाने के लिए हराम घोषित किया गया है। उक्त पशु के मांस को कुरान में वर्जित घोषित किया गया है।

अरब की संस्कृति उस समय में ऐसी रही कि जहां पर बहुत अधिक मात्रा में अन्य अन्न नहीं हुआ करता था। मनुष्य को अपने जीवन यापन, भूख मिटाने के लिए कई तरह के प्रोटीन को एक साथ ग्रहण करने के लिए उसे मांस का भक्षण करना ही था। यह उसकी पर्यावरण के साथ जीते हुए एक बहुत बड़ी मजबूरी थी और उसने इस संबंध में उनका पालन भी किया कि किसी भी जानवर को न खाया जाए जो उसे हराम रूप में दर्शाया गया है। जानवर को ज़िबह करने की एक तरकीब भी दी गई है जिसका पालन इस्लाम के अनुयायी मुस्लिम करते हैं और इस बात का सदैव ध्यान रखते हैं कि किसी ऐसे जानवर को न सताया जाए, न मारा जाए, जिसे निषेध ठहराया गया है। इस्लाम में यह भी दर्शाया गया है कि मक्का, जो मुसलमानों के लिए बहुत पवित्र स्थल है, उसकी सरहद में किसी भी जानवर को ज़िबह न किया जाए और शिकार करने की भी कई स्थलों पर मनाही की गई है। आयत 5.95 में स्पष्ट कहा गया है कि यदि अहराम में हज यात्रा के समीप पवित्र काबा के आसपास तुमने जानवर की जान से खेलने का प्रयास किया और जानबूझकर उसे मार दिया तो तुम्हें बदले में उसी के समान एक जानवर देना होगा। नहीं दे सकते तो उसके मूल्य के बराबर भूखे को खाना खिलाना होगा और यह भी नहीं कर सकते हो तो फिर इस बात के प्रायश्चित के लिए तुम्हें उपवास अर्थात् रोज़ा रखना होगा।

पैगंबर हज़रत मोहम्मद साहब ने छोटे–छोटे प्राणियों के प्रति भी दया का भाव दर्शाया है। एक बार पैगंबर साहब जिस मार्ग से गुजर रहे थे, कुछ लोग एक भेड़ पर बाण चला रहे थे। तब आपने घृणा से कहा–इस बेचारे प्राणी को विकलांग ना बनाओ। एक व्यक्ति एक बार एक चिड़िया के घोंसले से अंडे निकाल रहा था, पैगंबर साहब घोंसले के पास गए और कहा– जहां से इन्हें निकाला है, वहीं रख दो, इस गूंगे जानवर को कष्ट देने से पहले ईश्वर से डरो, उन पशुओं पर भी तभी सवारी करो जब वह सवारी करने के योग्य हो और जब वे थक जाएं तो उन पर से उतर जाओ, वह हमारे लिए वरदान हैं, उन्हें पीने के लिए पानी दो, जिस प्राणी के शरीर में कलेजा होता है उसे पानी की सख्त आवश्यकता पड़ती है।

पैगंबर साहब पर्यावरण के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील थे। संपूर्ण जगत और उसके पर्यावरण के प्रति वे प्रेम, दया, करुणा, सहानुभूति दर्शाते हैं और इस्लाम के अनुयायियों को निरंतर इस बात की हिदायत देते हैं कि वह इन सब का पालन करें। एक और किस्सा जीव दया के संबंध में उनका हमें मिलता है– एक दोपहर को पैगंबर साहब सो रहे थे। वहीं आपके

पास आकर एक बिल्ली भी सो गई। वह जब उठे तो देखा, बिल्ली गहरी नींद में है और बीमार लगती है। यदि अपने पहने हुए कपड़े को बिल्ली के नीचे से खींचते हैं तो बिल्ली जाग जाएगी। इसलिए उन्होंने अपने उस कपड़े को ही काट दिया जिस पर बिल्ली सो रही थी। इससे स्पष्ट होता है कि पैगंबर मोहम्मद साहब जानवरों के प्रति जीव दया का भाव लिए हुए थे और कमजोर जानवर के प्रति तो विशेष रूप से वे सहायक के रूप में उभरते हैं और उनके जीवन संरक्षण की वह बात करते हैं। पवित्र कुरान में 14.32 की आयत के अंतर्गत लिखा गया है कि–अल्लाह जिसने स्वर्ग और धरती बनाई है और जिनके लिए आकाश से पानी बरसाया है, वह सब इसके लिए कि तुम्हारे खाने हेतु फल प्राप्त हों। इस आयत से भी स्पष्ट होता है कि पानी, धरती, जल, वनस्पतियों इत्यादि के सरंक्षण और उसके उपभोग उसके विकास की भी बात यहां कुरान शरीफ में बड़े करीने से दर्शाई है और स्पष्ट किया है कि ये सब मनुष्य के जीवन के सहायक हैं। अर्थात् पर्यावरण के बीच ही मनुष्य अपना जीवन गुजार सकता है और उसे इस पर्यावरण का संवर्धन भी निरंतर करते रहना चाहिए।

जैसा कि स्पष्ट है कि इस्लाम का जन्म स्थान मरुस्थल ही रहा है और इस्लाम में जल को बहुत महत्व दिया गया है जल को जीवन का रहस्य तक बताया गया है। पाक कुरान शरीफ में पानी को अल्लाह की तरफ से एक उपहार और नैमत बताई गई है और सूरह फुरकान 25.48 के अंतर्गत बताया है–'हमने आकाश से पाक पानी उतारा।' सुरह अंबिया 21.3 के अनुसार बताया है कि 'अल्लाह ने हर जानदार चीज पानी से बनाई।' इस्लाम में पानी की बर्बादी की सख्त मनाही है। साथ ही मुनाफे के लिए इसका उपयोग करना गुनाह दर्शाया है। मनुष्य जंतु, पक्षी, पेड़–पौधे सभी को पानी की जरूरत पड़ती है और उनके सरंक्षण के रूप में कई बातें दर्शाई हैं और बताया है कि यदि इनका सरंक्षण किया गया तो अल्लाह खुश होगा, क्योंकि जो व्यक्ति अल्लाह की इस संपत्ति को नुकसान पहुंचाएगा, वह अंततः अल्लाह को नुकसान पहुंचाएगा और इसके लिए वह तुम्हें कभी माफ नहीं करेगा। वृक्ष, वनस्पतियों के विषय में भी उतनी ही गंभीरता से बात दर्शाई गई है। एक हदीस में दर्शाया गया है कि– 'अगर कयामत कायम होने वाली हो और किसी के पास बोने के लिए खजूर की कोई कोपल हो तो उसे चाहिए है कि वह उसे बो दे, उसके इस अमल के बदले उसे और सवाब मिलेगा।' इस्लाम में पौधे लगाना और वृक्षों के सरंक्षण में भी बहुत सी बात बताई गई हैं। पैगंबर साहब खुद खजूर के पेड़ लगाते थे और उन्होंने सीख दी है कि आपको पेड़ लगाना चाहिए, बिना जरूरत के पेड़ भी नहीं काटना चाहिए, उसे गुनाह माना गया है। पेड़ लगाना एक प्रकार का दान भी स्वीकार किया गया है, क्योंकि इससे पक्षियों और दूसरे जीवों को आसरा मिलता है, उनका जीवन फलता–फूलता है और कई जीव इन पर ही आश्रित होने के कारण इन से अपना भोजन ग्रहण करते हैं। पेड़ छायादार होना चाहिए, राहगीरों को वह शीतलता प्रदान करते हैं।

ऐसे कई उदाहरण, ऐसे कई तथ्य, ऐसी कई व्यावहारिक बातें, उपदेश पाक कुरान शरीफ और हदीस में हमें प्राप्त हो जाते हैं जिसमें इस्लाम द्वारा दर्शाया गया है कि मनुष्य यदि अपना जीवन प्रकृति के नियमों के मुताबिक जीएगा और प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करते हुए उसका विकास करेगा तो उसका जीवन टिका रहेगा। यदि पानी की फिजूल खर्ची की गई, यदि पेड़ों को काटा गया, नदियों को दूषित किया गया, वायु को दूषित किया गया तो इसके परिणाम बहुत गंभीर आ सकते हैं। इसलिए इस्लाम में भोग–विलास पर भी प्रतिबंध लगाया गया है। न्याय की भी बात की गई है कि हमें सदैव जीवन में न्यायिक दृष्टि अपनानी चाहिए। उदार, रहम दिल, सहिष्णु बनना चाहिए। किसी का भी दिल नहीं दुखाना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा किया गया

तो हम मजहब की बातों के विपरीत हो जाएंगे। फिर हमारा जीवन और भी अधिक उलझा हुआ, संकट भरा हो जाएगा। आज यदि इस संदर्भ में देखा जाए तो कोराना के समय में स्पष्ट रूप से पता चलता है कि पर्यावरण का असंतुलन होने से ही यह नया वायरस पैदा हुआ है और इस बात का भी यह हमें संकेत देता है कि अभी मनुष्य को संभल जाना चाहिए तथा पर्यावरण के प्रति सचेत हो जाना चाहिए। यह वैश्विक संकट बेहिसाब लालच के कारण, अंधाधुंध पर्यावरण का नुकसान करने के कारण, अतिवादी होने के कारण, अति उपभोगी होने के कारण, विवेकहीन होने के कारण आज हमारे सामने खड़ा है। ऐसी अवस्था में हम चाहे जितनी योजनाएं बना लें, चाहे जितने हम आर्थिक पैकेज जुटा लें, परंतु इस प्रकार के संकट से हम निजात नहीं पा सकते हैं, क्योंकि हमने अपने आप को पर्यावरण के विरुद्ध खड़ा कर लिया है और ऐसी अवस्था की तरफ दौड़े चले जा रहे हैं जहां दुर्गति ही दुर्गति मौजूद है।

इस्लाम इस दुर्गति से बचने के लिए व्यापक रूप में सभी अनुयायियों को व्यावहारिक शिक्षाएं प्रदान करता है। पर्यावरण हमें चेतना की मूल्यवादी दृष्टि प्रदान करता है और पर्यावरण के सरंक्षण और संवर्धन की बात करता है। यह जीवन को बचाने की बात करता है। अतः कहा जा सकता है कि विश्व के किसी भी धर्म में पर्यावरण के बिना धर्म के होने की या स्वीकारोक्ति नहीं दी गई है और स्पष्ट रूप से धर्म और धार्मिक पुस्तकों के अंतर्गत पर्यावरण से तालमेल बिठा कर जीवन यापन की अमूल्य शिक्षा प्रदान की गई है। इस्लाम सिद्धांतों के साथ–साथ व्यावहारिक दृष्टि में इस बात की सीख भी देता है कि हमें पर्यावरण संतुलन कायम रखते हुए, उसका सरंक्षण करते हुए सहज रूप से सहज गति में जीवन को आगे बढ़ाना चाहिए और वैश्विक विकास करना चाहिए।

*****

सफल जीवन

एक बार अर्जुन ने कृष्ण से पूछा, 'माधव ये सफल जीवन क्या होता है? इस बात को समझाने के लिए कृष्ण अर्जुन को पतंग उड़ाने ले गए। अर्जुन कृष्ण को ध्यान से पतंग उड़ाते देख रहा था। थोड़ी देर बाद अर्जुन बोला–

माधव ये धागे की वजह से पतंग अपनी आजादी से और ऊपर की ओर नहीं जा पा रही है, क्या हम इसे तोड़ दें? ये और ऊपर चली जाएगी।

कृष्ण ने धागा तोड़ दिया। पतंग थोड़ी सी और ऊपर गई और उसके बाद लहराकर नीचे आई और दूर अनजान जगह पर जाकर गिर गई–––

तब कृष्ण ने अर्जुन को जीवन का दर्शन समझाया ––

'पार्थ जिंदगी में हम जिस ऊंचाई पर हैं, हमें अक्सर लगता है कि कुछ चीजें, जिनसे हम बंधे हैं, वे हमें और ऊपर जाने से रोक रही हैं, जैसे : घर, परिवार, अनुशासन, माता–पिता,गुरु, समाज आदि और हम उनसे आजाद होना चाहते हैं। वास्तव में यही वो धागे होते हैं– जो हमें उस ऊंचाई पर बना के रखते हैं 'इन धागों के बिना हम एक बार तो ऊपर जाएंगे परन्तु बाद में हमारा वही हश्र होगा, जो बिन धागे की पतंग का।'

शिक्षा– जीवन में तुम ऊंचाइयों पर बने रहना चाहते हो तो कभी भी इन धागों से रिश्ता नहीं तोड़ना'। इसलिए धागे और पतंग जैसे जुड़ाव के सफल संतुलन से मिली हुई ऊंचाई को ही सफल जीवन कहा जाता है।

असम में नागरी हिंदी का प्रभाव और संत गोपाल आता

परीक्षित नाथ, सहकारी अध्यापक
दुमदुमा महाविद्यालय,
तिनसुकिया, असम

भक्ति आंदोलन मध्यकालीन भारत का एक ऐसा जागरण है जहां देश के प्रायः हर एक प्रांत से संतों महापुरुषों ने समाज में फैले अन्याय, अत्याचार, अनीति, अनियम का अंत करने का भरसक प्रयास किया और इन अधिकतर महापुरुषों की भाषा देवनागरी से संबंधित थी। साथ ही मुख्य रूप से कृष्ण भक्ति का प्रचार–प्रसार करके समाज को एक नई दिशा देने का काम किया। तेरहवीं सदी से प्रारंभ होकर सोलहवीं सदी तक देश की लगभग सभी क्षेत्रीय भाषाओं में वैष्णव साहित्य का सृजन होने लगा, साथ ही क्षेत्रीय महापुरुषों ने देवनागरी लिपि का भी प्रयोग और अध्ययन बारीकी से किया जिसमें से मुख्य है– बंग के चैतन्य महाप्रभु के राधा कृष्ण भक्ति मूलक पद, भागवत का अनुवाद आदि, उड़ीसा के वैष्णव कवि बलराम दास की 'रामायण', सरला दास की 'महाभारत', जगन्नाथ दास का भागवत पुराण, असम के महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव की 'रामायण' (उत्तरकांड), 'रामविजय नाट', 'कीर्तन घोष आदि। इसी प्रकार उत्तर भारत की कृष्ण भक्ति शाखा और राम भक्ति शाखा के कवि सूरदास, तुलसीदास आदि प्रमुख हैं।

महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि वैष्णव संत एवं कवि हुए जिन लोगों के पद आज भी लोग बड़े ही आदर और सम्मान के साथ गाते हैं। उसी प्रकार असम के संत एवं कवि हेम सरस्वती, रूद्र कंदली, हरिहर विप्र, कविरत्न सरस्वती, माधव कंदली आदि कवि एवं वैष्णव साहित्यकार हुए जिनकी रचनाओं में वैष्णव साहित्य की सभी विशेषताएं स्पष्ट परिलक्षित होती हैं, साथ ही नागरी हिंदी का प्रभाव भी दिखलाई पड़ता है। पंद्रहवीं सदी के अंतिम चरण में असम में महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव का आर्विभाव हुआ जहां से असम में वैष्णव साहित्य का नवरूप दिखाई पड़ने लगा जो कालक्रम में नव वैष्णव साहित्य नाम से प्रसिद्ध हुआ।

श्री शंकरदेव के जन्म के समय सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां अत्यंत दयनीय थीं। असम में विभिन्न जाति, धर्म, जनजातियां होने के कारण नीति–नियम,जीवन–प्रणाली में भी विभिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं जिसके कारण उस समय समाज में अनेक मान्यताएं फैली हुई थीं। नैतिक आदर्श और आध्यात्मिक साधना और संस्कार के अभाव के कारण समाज में अराजकता और व्यभिचार फैला हुआ था। इन विषम परिस्थितियों को देखकर महापुरुष श्रीमंत शंकर देव ने वैष्णव धर्म को एक नवरूप देकर असम में नववैष्णव धर्म का प्रचार–प्रसार किया और अपने साहित्य और कलाओं के माध्यम से समाज को सुधारने का काम किया। श्री शंकर देव के नववैष्णव धर्म को एक शरणीया नाम धर्म से भी जाना जाता है जहां पर हर वर्ग, हर धर्म, जाति–जनजाति के लोगों के लिए द्वार खुला था।

असम राज्य विभिन्न जाति–जनजाति, धर्मों के लोगों का निवास स्थान है तथा इन लोगों के नीति–नियम, आदर्श, विश्वास, दर्शन, संस्कार भी भिन्न–भिन्न हैं, इस बात को शंकरदेव ने अनुभव किया और असम में एकता, संप्रीति, सद्भावना और आध्यात्मिक भाव को प्रज्ज्वलित करने के लिए एक

शरणीया नाम धर्म का प्रचार–प्रसार किया। इसी पंथ की अगुवाई करते हुए, उनके शिष्य महापुरुष माधवदेव हुए जिन्होंने अपने गुरु की तरह ही गीत, नाटक,पद , उपदेश के माध्यम से एक शरणीया नाम धर्म को और भी सबल और सशक्त बनाया। महापुरुष माधव देव के शिष्य महापुरुष गोपालदेव हुए जो गोपाल आता या भवानी पुरिया गोपाल देव के नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री गोपाल आता माधव देव के बारह मुख्य शिष्यों में से एक थे तथा माधवदेव के प्रिय शिष्य और धर्म की एक महत्वपूर्ण शाखा काल संहति के प्रवर्तक भी थे। महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष श्री माधव देव की नीति, आदर्श और विचार को गोपाल आता ने एक नया रूप प्रदान किया तथा असमिया नव वैष्णव धर्म को संपूर्णता देने में उन्होंने उल्लेखनीय भूमिका निभाई। साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह है कि पूर्वोत्तर भारत के इन महापुरुषों की भाषा या तो ब्रज मिश्रित असमिया है या फिर संस्कृत निष्ठ पुरानी असमिया। श्रीमंत शंकरदेव ने ब्रजावली नामक एक कृत्रिम भाषा का सृजन किया। उनके द्वारा रचित बरगीत और नाटक में ब्रजावली भाषा का ही प्रयोग किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्राचीन असमिया संतों की भाषा में नागरी हिंदी का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में स्पष्ट परिलक्षित होता है।

गोपाल आता का जन्म सन 1540 ईसवी में असम के शिवसागर जिले में हुआ था। सन 1564 में कोच आक्रमण के समय उनके परिवार जन असम के बरपेटा जिले के भवानीपुर में चले आए और यहीं स्थाई निवास करने लगे। उनके पिता का नाम कामेश्वर भुइया और मां का नाम ब्रजांगी देवी था। गोपाल आता का एक पुत्र और एक पुत्री भी थी, जिनका नाम है कमलेश्वर देव और पद्माप्रिया। पद्माप्रिया 16वीं सदी की प्रथम असमिया महिला कवि हुई। गोपाल आता की मृत्यु सन 1611 में हुई। बरपेटा में ही गोपाल आता महापुरुष माधवदेव से मिले और उनको गुरु के रूप में स्वीकार किया। गोपाल आता सभी शास्त्रों के विशारद थे, साथ ही शास्त्र कुशल व्याख्याकार भी। उन्होंने महापुरुषिया धर्म में गुरु को प्राधान्य देकर काल संहति शाखा का प्रवर्तन किया, जहां जातिभेद को त्यागकर सभी धर्मों को स्वीकारा जाता है । महापुरुष माधवदेव के बाद गोपाल आता ने अपने शिष्यों को एकत्रित करके असम की विभिन्न जगह पर सत्र (महापुरुषिया पवित्र स्थल, मठ) आदि की स्थापना की और धर्म का प्रचार–प्रसार किया। उन्होंने बरपेटा में कालझाड़ नामक सत्र की प्रतिष्ठा की थी। गोपाल आता के जीवन–चरित के अनुसार उनको माधवदेव के उत्तराधिकारी के रूप में स्वीकृति मिली थी।

कालसंहति शाखा के प्रवर्तक महापुरुष गोपाल आता की उपासना पद्धति में मूर्ति पूजा का विधान नहीं है तथा फूल मालादि का भी प्रयोग नहीं है। गोपाल आता ने कालसंहति शाखा को सफल बनाने के लिए बारह सत्रों की स्थापना की थी, जिनमें से छः सत्र क्षुद्र महंत चलाते थे, बाकी छह सत्र ब्राह्मण महंत चलाते थे। क्षुद्र महंत के सत्रों के नाम इस प्रकार हैं– मायामरा सत्र, दिहिंग सत्र, हालधिआति सत्र, गजला सत्र, नगरिया सत्र और दालाइ पो सत्र। इसी प्रकार ब्राह्मण महंत द्वारा चलाए गए सत्रों के नाम हैं– आंहटगुरी सत्र, काठपार सत्र, खाऊँरामुछर सत्र, इकरा सत्र, हाबुंग सत्र और चरालबंधी सत्र। क्षुद्र सत्रों में से मायामरा सत्र का असम के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसी सत्र में असम में एक प्रख्यात जन विद्रोह मोवामोरिया विद्रोह का प्रारंभ हुआ था। मायामरा सत्र की प्रतिष्ठा श्री श्री अनिरुद्ध देव ने की थी।

गोपाल आता धर्म प्रचारक के साथ–साथ एक कवि एवं नाट्यकार भी थे। उनके द्वारा विरचित 'उद्धवयान', 'जन्मयात्रा', 'नंदोत्सव' नामक तीन अंकिया नाटक उपलब्ध हैं। इसके उपरांत और भी एक नाटक है 'सीतार पाताल प्रवेश', जो अनुपलब्ध है। इस नाटक का

विभिन्न शुभ अवसरों पर कई बार मंचन भी हुआ है। इन नाटकों में गीतों का प्रयोग हुआ है, जिससे नाटक की कथावस्तु और गीतों का मधुर संगम हुआ है। नाटक और गीत की भाषा शंकरदेव, माधवदेव की रचनाओं की तरह ब्रजावली है और इन गीतों को विशेष ताल और राग में गाया जाता है। गोपाल आता के गीत और पद को भवानी पुरिया के नाम से जाना जाता है जो आज भी असम के विभिन्न प्रांतों में बड़े ही आदर के साथ गाया जाता है। गोपाल आता द्वारा विरचित 'जन्मयात्रा' नाटक के गीतों का कुछ अंश इस प्रकार है–

''दैवकी सती बोलन्त कंस मुख चाई।
उहि कन्या रत्न वैरी नोहे तोहारी
जानि वधिते नजुवाई।।
तोहारी भगिनी दुखुनी हामी अभागिनी
साधु अतये तई मान।
तुंहु दयाल कराहों कृपा हामारी
देहु बालक मुहे दान।।
अतये मिनती बोलन्त सती आकुल
बहे नीर सघने नयने।
माधवर चरण रेणु शीरे परखिये
दीन गोपाले एहु भणे।।"('जन्मयात्रा' नाट,गोपाल आता)
(इस पद में माता देवकी और राजा कंस का कथोपकथन है। माता दैवकी का अपने भाई कंस से अपने पुत्र का जीवन दान मांगने का प्रसंग है।)

'नंदोत्सव' नाटक को 'बोकायात्रा' नाटक नाम से भी जाना जाता है। 'नंदोत्सव' और 'जन्मयात्रा' नाटक मूल भागवत के दशम स्कंध से संबंधित है। 'जन्मयात्रा' नाटक की कथावस्तु एक नांदी श्लोक के बाद ही प्रारंभ होता है। यह नांदी श्लोक भागवत से लिया गया है। शंकरदेव और माधवदेव के नाटकों में श्री राम या श्री कृष्ण को सिंधुरा राग में प्रवेश करवाते हैं, लेकिन गोपाल आता ने अपने नाटकों में आशोवारी राग में पहले ब्रह्मा को प्रवेश करवाया है। नाटकों में व्यवहृत दो–चार गीतों के अलावा ज्यादा संख्यक गीत ही शंकर और माधव देव के गीत हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि असमिया वैष्णव साहित्य में श्री गोपाल आता का अवदान उल्लेखनीय व महत्वपूर्ण है। असम में नव वैष्णव धर्म के प्रचारक तथा समाज सुधारक श्री गोपाल आता का व्यक्तित्व एवं कृतित्व असमिया समाज में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। असम की विभिन्न जाति–जनजाति,धर्मों के लोगों को एकत्रित करके समन्वय और एकता स्थापित करने में श्री गोपाल आता का योगदान और अवदान उल्लेखनीय है । श्रीमंत शंकरदेव और श्री माधव देव के द्वारा प्रवर्तित एक शरणिया नाम धर्म को पूर्णांग रूप देने में तथा महापुरुषिया धर्म को आगे बढ़ाने में श्री गोपाल आता का अवदान महत्वपूर्ण और चिर स्मरणीय है और साथ ही असमिया भाषा और साहित्य में नागरी हिंदी और भक्ति आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्री गोपाल आता की समस्त रचनावली संस्कृत निष्ठ, ब्रज मिश्रित पुरानी असमिया भाषा में रची गई है जिसे पढ़कर या सुनकर मध्य भारत के लोग भी आसानी से समझ जाते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि असमिया भाषा में ही नहीं, अपितु जितनी भी आधुनिक आर्य भाषाएं हैं, उनमें कहीं न कहीं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में नागरी हिंदी का प्रभाव विद्यमान है।

*****

स्वास्थ्य का महत्व

स्वास्थ्य को सबसे बड़ा धन माना गया है। बीमार रहकर धनी होने के अपेक्षा स्वस्थ गरीब होना अधिक अच्छा है। बीमार व्यक्ति धन एवं सुख सुविधाओं का उपभोग नहीं कर सकता, वहीं एक स्वस्थ व्यक्ति अपने सांसारिक दायित्वों का पूरी तरह निर्वहन करते हुए पारमार्थिक रूप से भी अपना जीवन सफल कर लेता है। अच्छे स्वास्थ्य के लिए प्रयास करना मनुष्य का दायित्व है। मस्तिष्क में सकारात्मक सोच रखते हुए सदैव ईश्वर का स्मरण एवं ध्यान करना चाहिए।

अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय विक्रमशिला

डॉ. सर्जुन प्रसाद,
सहायक अधीक्षक पुरातत्वविद्
भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, नई दिल्ली।

अन्तिचक नामक पुरास्थल की पहचान प्राचीन विक्रमशिला के रूप में की गयी है। अन्तिचक पुरास्थल गंगा नदी के दाहिने तट पर भागलपुर जिले में कहलगांव रेलवे स्टेशन से लगभग 13 कि0मी0 की दूरी पर स्थित है। इस पुरास्थल से लगभग दो कि0मी0 उत्तर की ओर गंगा बहती है। इसके दक्षिण में लगभग दो कि0मी0 की दूरी पर गोवर्धन पहाड़ी है। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के भग्नावशेष लगभग 100 एकड़ से अधिक क्षेत्र में विस्तृत हैं (चित्र 1)। यह स्थल भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के अन्तर्गत केन्द्रीय संरक्षित पुरास्थलों की सूची में सम्मिलित है।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना आठवीं शताब्दी ई0 के अन्तिम चरण में पाल नरेश धर्मपाल (770–810 ई0) ने की थी। विद्यार्थियों के रहने के लिए यहां उसने अनेक विहारों का भी निर्माण कराया था। तदुपरान्त, उसके उत्तराधिकारियों ने अनेक शताब्दियों तक इस विश्वविद्यालय की सहायता की। इसके बारे में तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ ने इसका विस्तार से उल्लेख किया है। नालंदा के समान विक्रमशिला भी एक अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। यहाँ लंका, जावा, सुमात्रा, तिब्बत इत्यादि देशों से विद्यार्थी पढ़ने आते थे।

यहाँ के आचार्य एवं विद्यार्थी अपनी विद्वता के लिए प्रसिद्ध थे। अतीश दीपकर श्रीज्ञान 834–838 ई0 तक यहाँ के सबसे प्रसिद्ध आचार्य एवं कुलपति थे। राजा रामपाल (1080 ई0) के समय अभयाकर गुप्त यहाँ के कुलपति थे। उस समय यहां 160 आचार्य (प्राध्यापक) तथा लगभग एक हजार छात्र (भिक्षु) थे। बाद में विद्यार्थियों की संख्या दस हजार हो गई थी।

लामा तारानाथ के अनुसार, विश्वविद्यालय एक विशाल सुरक्षा दीवार से घिरा था। विश्वविद्यालय परिसर के केन्द्र में एक विशाल बौद्व मंदिर था। इसके साथ 107 छोटे–छोटे अन्य मंदिर संलग्न थे। यहाँ एक अत्यन्त समृद्ध पुस्तकालय था। विश्वविद्यालय के अन्तर्गत छह महाविद्यालय थे, और प्रत्येक महाविद्यालय के लिए अलग–अलग द्वार पंडित थे। छात्रों (भिक्षुओं) के रहने के लिये बड़ी संख्या में छात्रावास (विहार) बनाये गये थे। इसके अतिरिक्त, अतिथिगृह एवं अन्य वास्तु संरचनाएं भी थीं।

ग्यारहवीं शताब्दी ई0 में यह भारत का सर्वाधिक संपन्न, सुसंगठित तथा प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय था। तेरहवीं शताब्दी ई0 के आरंभ में विदेशी आक्रांताओं ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय का नालंदा की भांति विध्वंस कर दिया था। इस प्रकार यह 9वीं शताब्दी ई0 से 12वीं शताब्दी ई0 (लगभग चार सौ वर्ष) तक अस्तित्व में रहकर अपने ज्ञान के प्रकाश से संसार को आलोकित करता रहा।

यहां तर्कशास्त्र, तत्व मीमांसा, तंत्र–मंत्र, वज्रयान, व्याकरण, रस्म–रिवाज, विधिवाद, चित्रकारी, कलात्मक निपुणता आदि की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त, यहां शैव, शाक्त, वैष्णव और अन्य संप्रदायों से संबंधित शिक्षा भी दी जाती थी। तिब्बती स्रोतों से पता चलता है कि यहाँ 48 शिक्षण संकाय थे। ये संकाय नालंदा के समान कार्य करते थे।

विक्रमशिला में 109 विद्वान आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्य भी बाहर से आकर शिक्षा देते थे। दीपंकर श्रीज्ञान यहाँ के सबसे प्रसिद्ध आचार्य एव कुलपति (अध्यक्ष) थे। तिब्बत के राजधर्म के रूप में बौद्ध धर्म को प्रतिष्ठापित कराने में दीपंकर श्रीज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका थी। वहाँ इन्हें अतिश (मंजुश्री का अवतार) माना गया है। अन्य आचार्यों में बागीश्वर कीर्ति, रत्नाकर शांति, कामल कुलिस, दानरक्षित, ज्ञानपाद, अभयाकर गुप्त, शुभाकर गुप्त, सुनयक श्री, वैरोचन रक्षित, जेतारि, रत्नकीर्ति, ज्ञान श्रीमित्र, रत्नवज्र, धर्मकीर्ति आदि प्रमुख थे।

यह नालंदा के समान आवासीय विश्वविद्यालय था। नालंदा की भांति यहाँ भी छात्रों से कठिन प्रवेश परीक्षा ली जाती थी। इस विश्वविद्यालय में छह प्रवेश द्वार थे जिन पर विद्यार्थियों के चयन हेतु प्रकांड द्वार–पंडितों की व्यवस्था थी। चनक के शासन काल (955–983 ई0) में विश्वविद्यालय के पूर्वी द्वार पर आचार्य रत्नाकर शांति, पश्चिमी द्वार पर बागीश्वर कीर्ति, उत्तरी द्वार पर नरोप, दक्षिणी द्वार पर प्रज्ञाकरमति, प्रथम केन्द्रीय द्वार पर रत्नवज्र और द्वितीय केन्द्रीय द्वार पर ज्ञानश्री मित्र पदस्थापित थे। इन द्वारपंडितों को विद्यार्थियों के से संतुष्ट होने के बाद उनकी अनुशंशा के उपरांत ही विद्यार्थियों का प्रवेश संभव हो पाता था।

विश्वविद्यालय का प्रबंधन अध्यक्ष के हाथों में था। परन्तु राजकीय विश्वविद्यालय होने के कारण अध्यक्ष को राजा के निर्णयों का अनुपालन करना होता था। अध्यक्ष के अतिरिक्त आचार्यों की एक परिषद् होती थी। इस परिषद् के सदस्यों को अलग–अलग कार्य दिए जाते थे, जैसे सेवा में संलग्न कर्मचारियों की निगरानी; ईंधन व भोजन का वितरण आदि।

यह विदित है कि नालंदा महाविहार की स्थापना गुप्त काल में हुई थी और पाल काल में यह समृद्धि की पराकाष्ठा पर था। अतः पाल काल में नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालय के आचार्य (शिक्षक) एक दूसरे के यहां शिक्षण कार्य हेतु आते–जाते थे। नालंदा विश्वविद्यालय जहां राजकीय प्रभुत्व से मुक्त था, वहीं विक्रमशिला विश्वविद्यालय का मुख्य अधिकारी राजा होता था। जिसके कारण विक्रमशिला का कार्य राजा के आदेश से होता था। अतः विक्रमशिला को राजकीय विश्वविद्यालय माना गया है।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय का तिब्बत और दक्षिण–पूर्व एशिया के कई देशों के साथ घनिष्ठ संबंध था। यहां के विद्वान आचार्य लंका, चीन, तिब्बत, नेपाल आदि देशों में जाया करते थे। विक्रमशिला में लंका, जावा, सुमात्रा, तिब्बत आदि देशों से छात्र अध्ययन हेतु आते थे। तिब्बती राजा के निमंत्रण पर आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (अतिश) बौद्ध धर्म में सुधार लाने हेतु और तंत्र के प्रसार के लिए तिब्बत गये थे। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम कई वर्ष तिब्बत में व्यतीत किए। वे जावा भी गये थे। यह भी कहा जाता है कि तिब्बती शासकों ने विक्रमशिला में लामा लोगों के निवास के लिए छात्रावास बनवाया था।

आंरभ में विक्रमशिला पुरास्थल की पहचान के विषय पर विद्वानों में मतैक्य नहीं था। कनिघम ने विक्रमशिला को सिलौव (जिला नालंदा) के पास बताया। वहीं डी.सी. विद्याभूषण ने सुल्तानगंज (जिला भागलपुर) के पास, ए.बनर्जी शास्त्री ने केऊर (हुलासगंज, जहानाबाद) के टीले को विक्रमशिला बताया। एन. पी. चक्रवर्ती सरीखे अन्य विद्वानों का मत था कि विक्रमशिला पत्थरघटा (जिला भागलपुर) पहाड़ी के पास रहा होगा। क्योंकि गंगा के तट पर बटेश्वर स्थान के पास वीरान खण्डर से अनेक मूर्तियां मिली थीं। विक्रमशिला को पहचानने का प्रथम श्रेय अंग्रेज पर्यटक फ्रांसिस बुकानन को जाता है। उसने 1811 ई0 में अंतिचक का भ्रमण किया था और संभावना व्यक्त किया था कि यह किसी राजा का महल रहा होगा। रूप 1930

ई0 में सी.ई. डब्ल्यू ओल्डहम ने बुकानन की डायरी का संपादन किया और उसने बताया कि बुकानन द्वारा इंगित राजा का महल विक्रमशिला विश्वविद्यालय है। उसने यहाँ उत्खनन कराने के लिए भी अनुसंशा किया था। अंततः विक्रमशिला की पहचान अंतिचक के रूप में हुई।

श्री बी0पी0 सिन्हा, पटना विश्वविद्यालय के निर्देशन में 1960 से 1969 के बीच उत्खनन किया गया। इस अवधि में मुख्य रूप से अंतिचक के भग्नावशेष के सबसे ऊँचे स्थान (घरोहर टीला) का उत्खनन किया गया। तत्पश्चात भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण ने 1972–81 के बीच की अवधि में भारत सरकार की एक परियोजना के अन्तर्गत बी0एस0 वर्मा के निर्देशन में यहाँ बड़े पैमाने पर उत्खनन का कार्य सम्पन्न हुआ। उत्खनन के पश्चात् अनेक संरचानएं, मूर्तियां एवं अन्य पुरावशेष प्रकाश में आए।

अंतिचक पुरास्थल के उत्खनन के फलस्वरूप 1,08,900 वर्ग मीटर क्षेत्र में विश्वविद्यालय की विविध संरचनाएं प्राप्त हुई। इनमें सुरक्षा दीवार, प्रवेशद्वार, संघाराम, केन्द्र में बने बौद्ध मंदिर, मनौती स्तूप (फलक 2) एवं जल निकासी के लिए बने नालियों के साक्ष्य प्रकाश में आए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से विविध प्रकार के पुरावशेष एवं मूर्तियां मिली हैं।

लामा तारानाथ के अनुसार विश्वविद्यालय का परिसर एक विशाल दीवार से घिरा था परन्तु उत्खनन से इसके अत्यन्त न्यून साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। प्रवेश द्वार के संबंध में उल्लेख मिलता है कि विश्वविद्यालय में छह प्रवेश द्वार थे, तथापि उत्खनन से ईंट–निर्मित मात्र एक प्रवेशद्वार प्रकाश में आया है। प्राप्त तोरण अवशेषों से प्रतीत होता कि तोरण अत्यन्त भव्य रहे होंगे। यह भी ज्ञात होता है कि प्रवेशद्वार से परिसर के अन्दर जाने वाले रास्ते ऊँचे–ऊँचे वर्गाकार एकाश्मक प्रस्तर स्तंभ पर आधारित छत से आच्छादित थे। प्रवेशद्वार से अन्दर के आंगन में जाने के लिए सीढ़ियां भी बनाई गयी थीं।

विश्वविद्यालय के केन्द्र में भव्य एवं विशाल बौद्ध मंदिर के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इस मंदिर से संलग्न अन्य 107 छोटे मंदिर के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इस बौद्ध मंदिर के गर्भगृह में एक आले में प्रस्तर की बनी आदमकद बुद्व–प्रतिमा मिली है जो पटना विश्वविद्यालय के संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसके अतिरिक्त गर्भगृह के तीन अन्य आले में मिट्टी की बनी बोधिसत्व की प्रतिमा प्राप्त हुई है। गर्भगृह की दीवारें मिट्टी की बनी पट्टिकाओं से सुसज्जित हैं (फलक 3)। उत्खनन से यह भी प्रकाश में आया है कि गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा–पथ था।

तिब्बती साहित्य में उल्लेख मिलता है कि छात्रों (भिक्षुओं) को रहने के लिए विश्वविद्यालय परिसर में बड़ी संख्या में संघाराम बनाये गये थे। उत्खनन से 208 संघाराम (विहार) के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। इनमें ग्यारह कमरे तहखानेयुक्त मिले हैं। तहखाने में प्रवेश के लिए विवर (मांद) बनाये गये थे। ये संघाराम एक पंक्ति में बने हैं जिनके प्रवेशद्वार एक लम्बे बरामदों में खुलते हैं तथा बरामदा अंदर के आंगन से सलंग्न है। इसके अतिरिक्त संघाराम परिसर में ढकी हुई नालियों के साक्ष्य भी प्राप्त हुए हैं। इन नालियों के निर्माण में तराशे हुए शिलाखंडों का प्रयोग किया गया है।

अंतिचक के उत्खनन से बड़ी संख्या में बौद्ध प्रतिमाएं, ब्राह्मण प्रतिमाएं, अभिलेख तथा अन्य पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। ये वस्तुएं पकी मिट्टी, प्रस्तर, लोहे, ताम्र, स्वर्ण, रजत, कांस्य, हाथी दांत, अस्थि, शंख आदि के बने हैं। बौद्ध प्रतिमाओ में बुद्ध (फलक 4), बोधिसत्व, मैत्रय, मंजुश्री, मारीची, तारा, जम्भल, अपराजिता, अवलोकितेश्वर आदि सम्मिलित हैं। ब्राह्मण प्रतिमाओ में नवग्रह, विश्णु, शिव, उमा–महेश्वर, सूर्य, महिशासुरमर्दिनी, कुमारी, चामुण्डा, वैष्णवी, अग्नि, कुबेर, गणेश, भैरव, पार्वती, गंगा, कार्तिकेय, कामदेव,

सप्तमातृका, अर्धनारीश्वर आदि प्रमुख हैं। उत्खनन से प्राप्त पुरावशेषों एवं कलाकृतियों को पुरास्थलीय संग्रहालय में प्रदर्शित किया गया है जिन्हें पर्यटक देख सकते हैं और अपने–अपने तरीके से विश्वविद्यालय की महत्ता को समझ सकते हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि विक्रमशिला विश्वविद्यालय पाल नरेशों की एक अनुपम देन थी। जिससे शिक्षा जगत में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली। भारत के विविध क्षेत्रों से यहां अध्ययन हेतु विद्यार्थी आते थे। लंका, जावा, सुमात्रा, तिब्बत आदि देशों से भी विद्वान एवं विद्यार्थी अध्ययन–अध्यापन हेतु आते थे। विक्रमशिला का तिब्बत पर इतना बड़ा प्रभाव पड़ा कि बौद्ध धर्म ने तिब्बत के राजधर्म का स्थान ले लिया।

यहाँ जीवन से जुड़े विविध विषयों की पढ़ाई होती थी जिसके अलग–अलग संकाय थे। यहाँ के शिक्षक अति प्रतिभाशाली और आदर्शवादी थे। वे विद्यार्थियों के प्रवेश में नालंदा विश्वविद्यालय के प्रवेश विधि का पूर्णतः पालन करते थे। इस विश्वविद्यालय का वास्तु विन्यास सोमपुर विहार (बंगलादेश) के समान था, परन्तु इसकी अपनी पहचान थी। प्रवेशद्वार, संघाराम और विश्वविद्यालय के केन्द्र में बने बौद्ध मंदिर आदि वास्तु अवशेषों से प्रतीत होता है कि विश्वविद्यालय की अदभुत स्थापत्य योजना रही होगी।

यहाँ से पुरातात्विक उत्खनन से विविध प्रकार के बौद्ध एवं ब्राह्मण प्रतिमाएं मिली हैं जिनसे प्रतीत होता है कि धार्मिक दृष्टिकोण से यहाँ का वातावरण सौहार्दपूर्ण रहा होगा। यह 9वीं शताब्दी ई0 से 12वीं शताब्दी ई0 (चार सौ वर्षों) तक पुष्पित और पल्लवित होता रहा और अपने ज्ञान से दुनिया को आलोकित करता रहा। यदि बाहरी आक्रांता इसे नष्ट नहीं करते तो शायद यह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की तरह अस्तित्व में रहता और हम विक्रमशिला विश्वविद्यालय के ज्ञान से आज भी आलोकित होते हैं।

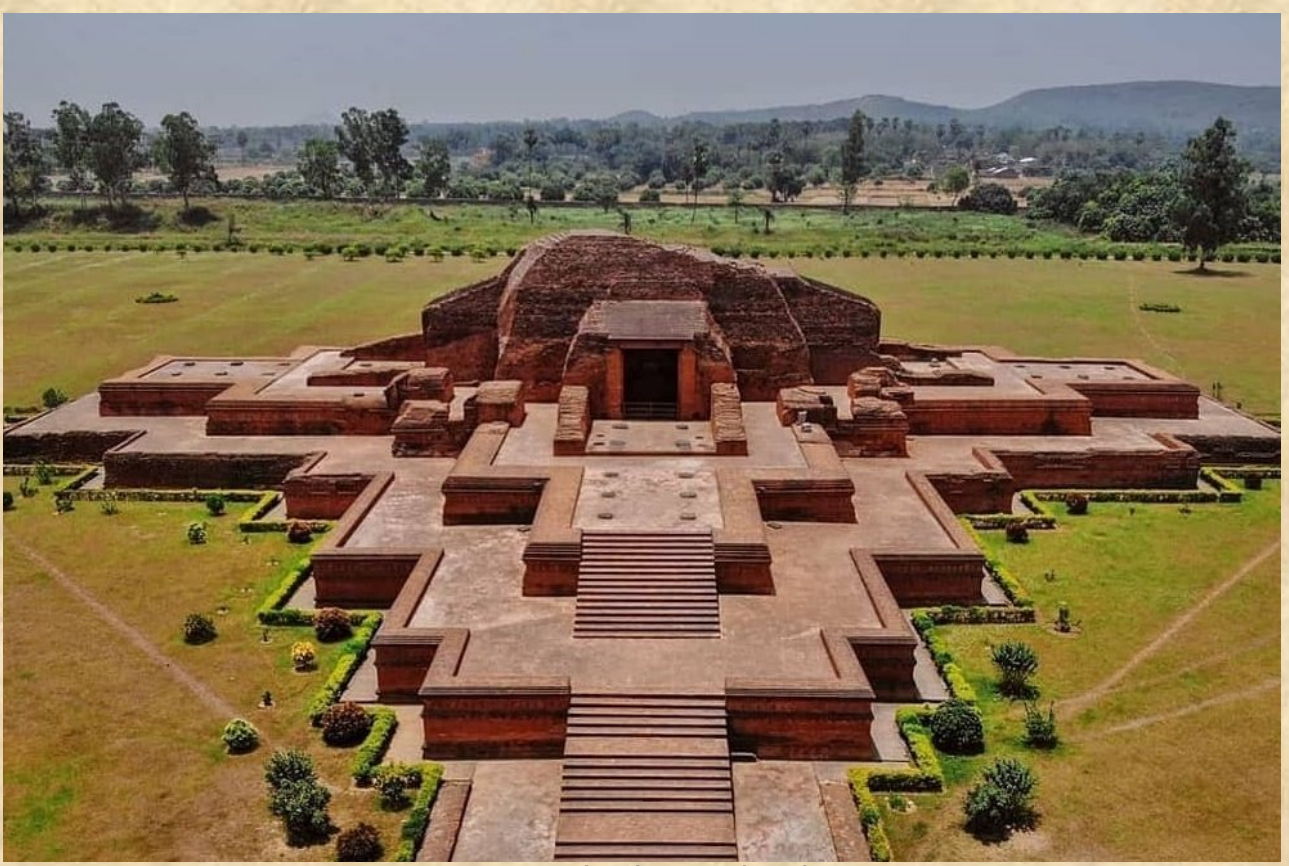

अंतरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, विक्रमशिला

प्रचलित हस्त शिल्प, उद्योग तथा व्यापार में शौका जनजाति का योगदान

डॉ. दिनेश कुमार गुप्ता
जिला सवाई माधोपुर (राज.)

प्राचीन काल से ही मानव प्रकृति से सामान्य रूप से संतुष्ट नहीं रहा है। सौन्दर्य वृद्धि तथा सौन्दर्य सृष्टि की ओर नैसर्गिक रूप से उसकी प्रवृत्ति रही है। जातीय परम्परा, ऐतिहासिक–सांस्कृतिक सम्पर्क तथा परिवर्तनशील आर्थिक परिस्थितियों का आद्यकला के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है। पर्वतीय क्षेत्र की भौगोलिक संरचना तथा ठंडी जलवायु के कारण इस क्षेत्र के शौका निवासी ऊनी वस्त्रों का परम्परागत रूप से प्रयोग करते हैं। प्राचीन समय से ही अपने घरों में शौका जनजाति की महिलाएं ऊन उद्योग को अपने जीवन यापन का साधन बनाये हुए है। ऊन कातना व बुनना इनका मुख्य पेशा है। सीमान्त क्षेत्र जौहार, व्यांस, दारमा तथा चांदास के निवासी हिम प्रदेश में रहने के कारण अन्नोत्पादन करने में असमर्थ हैं। इसलिए तिब्बती ऊन से कम्बल, थुलमा, पंखी, पट्टू, व पशमीना आदि बनाकर अपनी उदर पूर्ति करते हैं। शौकाओं की हस्तकला भारत में प्रसिद्ध है।

हस्तशिल्प :– शौका समाज की अर्थव्यवस्था पूर्णतया ऊन उद्योग पर आधारित है। 1962 से पूर्व शौका पूरे उत्तराखण्ड में कपड़े तथा ओढ़ने–बिछाने वाले सामान की आपूर्ति अपने द्वारा बनायी गयी चीजों से करते थे। पहले ये अपनी भेड़–बकरी के ऊन से पंखी, चुटका तथा दन आदि बनाते थे तथा तिब्बती ऊन से बनियान, शॉल, पंखी, कपड़े तथा औरतों के पहनने के लिए च्युंभाला तथा काले रंग के गलाबन्ध बनाते थे। बाद में भारत–तिब्बत व्यापार बन्द होने से अच्छी किस्म का ऊन मिलना बन्द हो गया जिससे कपड़े बनाना धीरे–धीरे कम हो गया। आज भी शौका इसी व्यवसाय से अपना गुजारा करते हैं। इस कार्य के लिए कताई–बुनाई तथा रंगाई का कार्य ज्यादातर स्त्रियां करती हैं। पुरुष वर्ग कताई का कार्य करते हैं जो कि पहले तकली से करते थे लेकिन अब चरखे द्वारा की जाती है। इस कार्य को ज्यादातर महिलाएं शीतकालीन आवास में ही करती हैं।

ऊन की सफाई, कताई तथा रंगाई:– ऊन को कातने योग्य बनाने के लिए उसकी विधिवत् सफाई की जाती है ताकि उसमें किसी प्रकार का कूड़ा–करकट न रह पाये। तिब्बत से आयातित ऊन सबसे उत्तम कोटि की मानी जाती है। ऊनी कपड़ों की धुलाई के लिए गाँव के नजदीक सीमेन्ट का एक छोटा कुण्ड निर्मित होता है। तत्पश्चात लोहे के तारों से बनी परम्परागत कंघी से ऊन को काढ़ा जाता है। तकली में काते गए धागे से वस्त्र निर्माण के पश्चात उसकी रंगाई का कार्य किया जाता है। समय परिवर्तन के साथ–साथ तकनीकी प्रयोग होने लगे हैं। प्राचीन समय में तकली से कतने वाले ऊन को अब चरखों में काता जाने लगा है। हालाकि शौकाओं ने चरखे का प्रयोग 1967 के बाद ही आरम्भ किया। वर्तमान समय में कपड़ा तैयार करने के लिए अलग–अलग माप की रॉच का प्रयोग किया जाता है। शौका जाति अपनी आर्थिक स्थिति के अनुरूप छोटी–बड़ी रॉच का प्रयोग करते हैं। इन्हीं पर पंखी, शॉल, पट्टू आदि तैयार किये जाते है। शौका परिवार में ऊन की सफाई, रंगाई व कढ़ाई के कार्य में स्त्रियों की अहम भूमिका रहती है। प्राचीन काल में प्राकृतिक जड़ी–बूटियों से रंग तैयार किया जाता था। विशेषकर कालीन तथा च्युंभाला के लिए रंगाई करना आवश्यक

होता था। अखरोट की खाल, किल्मोड़े की जड़, हरड़ की फली, लाख तथा छिरछिया आदि प्राकृतिक जड़ी–बूटियों से प्राकृतिक रंग बनाये जाते थे। तत्पश्चात रासायनिक रंगों का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल में नेवी ब्लू, सोफियाना तथा लाल रंग सबसे अधिक लोकप्रिय था। वर्तमान समय में सभी प्रकार के रंगों का प्रयोग किया जाने लगा है।

चुटका, थुलमा, पंखी, शॉल बुनाई :– उक्त सभी वस्तुएँ ओढ़ने के लिए तैयार की जाती है। इनको आवश्यकतानुसार पतला तथा मोटा काटकर प्राकृतिक रंगों सफेद, स्लेटी, काला, तथा बादामी रंग में बनाया जाता हैं। चुटका वस्त्र रजाई की तरह मोटा तथा चौड़ा होता है जिसे एक तरफ सादा तथा दूसरे तरफ रोयेदार बुना जाता है। थुलमा मोटे ऊनी कम्बल की तरह होता है। अधिकांश थुलमा खादी ग्रामोद्योग के उत्पादन केन्द्रों में बनाया जाता है। पंखी 2–25/1–25 मीटर माप की ऊनी चादर जिसे शीत ऋतु में चलते–फिरते तन ढकने तथा रात्रि को सोते समय बिस्तर के रूप में प्रयुक्त करने के लिए उपयोगी वस्त्र समझा जाता है। शॉल तथा पंखी को करघों में बुनकर तैयार किया जाता है। प्राचीन काल की प्रत्येक स्त्री बनियान को छोड़कर हर प्रकार की बुनाई करती थी। इन सब में च्युंभाला बुनाई सबसे कठिन तथा बारीक मानी जाती है। वर्तमान समय की परिस्थितियां बदल चुकी हैं। मिलों में बने कपड़े व्यावहारिक तथा सस्ते लगने लगे हैं क्योंकि गतिशीलता बढ़ने के कारण गर्म स्थानों पर परम्परागत ऊनी वस्त्र पहनना अव्यावहारिक है। इस कारण वस्त्र बुनाई का प्रचलन कम हो गया। आजकल व्यावहारिक वस्तुओं चुटका, ऊन तथा थुलमा आदि का प्रचलन अधिक होता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक ऊनी उद्योग के अनेक बदलते स्वरूप परिलक्षित होते हैं। पहले वस्त्र घर पर ही बुनकर तैयार किये जाते थे। वर्तमान में औद्योगीकरण के युग में मिलों में बने कपड़े अधिक सस्ते बनाये जाते हैं, जिस कारण इन वस्त्रों की मांग कम हो गयी है। थुलमा, पंखी तथा चुटका ऊनी कपड़ों को बनाने की विधि लगभग एक–समान है। रिल (लकड़ी का तलवारनुमा डंडा), न्हे (रिंगाल का डंडा) आदि उपकरण बुनाई में प्रयोग किये जाते हैं। शौकाओं को ऊनी वस्त्रों को बनाने में शौका महिलाओं का सबसे बड़ा हाथ रहा है। ऊनी उद्योग कालीन, दन, सटन, थुलमा आदि चीन की देन है। वर्ष में ऊनी वस्तुओं पंखी, चुटका, शॉल को तैयार करके पुरुष वर्ग जौलजीबी तथा बागेश्वर के वार्षिक मेलों में बेचा करते हैं।

दन बनाती महिला

कालीन बुनाई :– शौका समाज के स्त्री व पुरुष दोनों कालीन बुनाई में विशेष सिद्धहस्त हैं जो स्थानीय भाषा में दन कहलाता है। कालीन अपने बिछाने तथा बेचने दोनों मतलब से बनाया जाता है। सामान्यतः कालीन 3 से 4 फुट चौड़े तथा 6 फुट लम्बे रंग–बिरंगे धागों से तैयार किया जाता है। शौकाओं के दन अपने विशेष प्रकार के डिजाइनों के अतिरिक्त प्राकृतिक रंगों के लिये भी विख्यात हैं। अन्य स्थानों में जहाँ कालीन निर्माण हेतु रासायनिक या कृत्रिम रंगों का प्रयोग किया जाता है, वहीं यहाँ के अधिकांश कारीगर स्थानीय स्तर पर मिलने वाली वनस्पति से प्राकृतिक रंग तैयार करके उन्हें इस्तेमाल करते हैं। कालीन के पृष्ठभूमि रंग को 'जिमी', किनारे को 'टम', बीच के नमूने को 'परा' तथा किनारे के कोनों को 'रू' कहा जाता है। कालीन के

अनेक प्रकार के नमूने होते हैं। कालीन उद्योग ऊनी कारोबार का इस समय सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है। कालीन को तैयार करने के लिए अड्डे (लकड़ी के फ्रेम) ठोकने के लिए छप्पू (लकड़ी का हथियार) पंजा (लोहे की अंगुलियों की तरह) सीक तथा ब्लेड का प्रयोग किया जाता है। यहां के कालीन की एक विशेषता है कि यहाँ के कालीन विशेष रूप से गृह उद्योग के लिए बनाये जाते हैं, न कि बडे उद्योग के लिए। बड़े उद्योग के रूप में बनने वाले कालीन आजकल आलोचनाओं के शिकार हो रहे हैं।

ऊनी व्यवसाय में काम आने वाले यंत्र

गलीचा :– गलीचा बिस्तर में बिछाने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। आठ दशक पूर्व तक शौका महिलाएं चुटका की भाँति गलीचा की बुनाई किया करती थीं। इस प्रकार का बना गलीचा बिछाने वाला चुटका कहलाता है। वर्तमान परिस्थितियों के चलते गलीचा उत्पादन का कार्य लगभग बंद हो गया है। शौका महिलाओं का ये एक प्रमुख कुटीर उद्योग है। सारी प्रतिकूलताओं के बावजूद वो इसे अभी जीवित रखे हुए है। लेकिन ये उसी रूप में जीवित हैं जिस रूप में आज से सौ–पचास साल पहले जीवित था। तकनीकी विकास का समावेश इसमें नहीं हो पाया। यदि इस ओर ध्यान दिया जाये तो यह उद्योग शौका महिलाओं को मजबूत आर्थिक आधार दे सकता है।

पशम :– पशम अत्यधिक हल्का, कोमल तथा गरम होता है। बकरी, याक, ऊँट तथा मृग आदि जंगली पशुओं के शरीर पर मोटे बालों के बीच बहुत कोमल तन्तु युक्त बाल पैदा किए होते हैं जो डाउन या पशम कहलाता है। ग्रीष्म ऋतु के आते ही पशम स्वतः ही गिर जाता है तथा नये बाल उग आते हैं। सन् 1974 में जॉर्ज बोगल तथा सन् 1814 में मूरक्राफ्ट के तिब्बत भ्रमण के पश्चात रिपोर्ट के आधार पर पशम की इस गुणवत्ता को देखते हुए ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तिब्बत से कुछ पशमीना बकरी लाकर ब्रिटेन में पालने का प्रयास किया, जो सफल नहीं हो सका। शौका जाति द्वारा पशम आयात का प्रयास भी किया गया लेकिन व्यापारियों ने पशम की अपेक्षा ऊन का व्यापार अधिक लाभप्रद समझा। शौका उद्यमियों द्वारा अंगोरा खरगोश पालकर उनके ऊन से शॉल उत्पादित किया जा रहा है। लेकिन खरगोश का ऊन अधिक कोमल व सफेद होते हुए भी गुणवत्ता की दृष्टि से पशम ही अधिक उन्नत समझा जाता है।

कताई–बुनाई में प्रयुक्त तकनीक :– सीमान्त क्षेत्र की शौका जनजाति द्वारा कताई–बुनाई में प्रयुक्त होने वाली तकनीक साधारण, सस्ती तथा खुद की बनायी हुयी पुश्तैनी तकनीक है जिसमें ज्यादातर चीजों में लकड़ी का प्रयोग होता है। इनके द्वारा प्रयुक्त उपकरण वर्षो से चले आ रहे हैं। इनमें अभी तक ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है। ये उपकरण बहुत सस्ते होते हैं। किसी भी उद्योग के विकास तथा उत्पादन के स्तर में तकनीक पर महत्वपूर्ण ध्यान दिया जाता है, क्योंकि तकनीक तथा उत्पादन की पद्धति ही रोजगार में मुख्य निर्णायक होती है। करघा ऊन उद्योग के लिए प्रयोग करने हेतु प्रमुख आधुनिक यंत्र है जो एक बार बनाने के बाद कई वर्ष चलता रहता है। धारचूला क्षेत्र की शौका जाति के लोग करघा का उपयोग नहीं के बराबर करते हैं, ये लोग कालीन के लिए रांच तथा चुटका, थुलमा

आदि के लिए पिठाच का प्रयोग करते हैं। जबकि जौहारी शौका ज्यादातर करघा का प्रयोग करते हैं,

शौका जनजाति अनाज रखने के लिए बर्तन के स्थान पर निगाल का पुतका स्वयं तैयार करते हैं। इसे बनाने के लिए द्यो निडाल का प्रयोग किया जाता है। इसका आकार पिटारानुमा होता है जिसमें चार–पाँच बोरी अनाज आसानी से आ सकता है। ग्रीष्म तथा शीतकालीन निष्क्रमण में जाते समय शौका इसका प्रयोग करते हैं। बाहर तथा भीतर मिट्टी व गोबर मिलाकर इसकी पुताई की जाती है। शौका दैनिक उपयोग की वस्तुओं को घरों में ही बना लेते हैं। इसके अतिरिक्त शौका निगाल से टोकरी, डलिया, बोकन–ड्वक (पीठ में रखने की टोकरी), ढंढेला तथा त्यार्छू ड्वक (बच्चों का

ऊनी व्यवसाय में काम आने वाले यंत्र

पाला) आदि बनाते हैं। पिटारी के बाहर से हिरन की खाल को मोड़ा जाता है। उसके ऊपर ढक्कन में कुंडी लगाकर ताला लगाने की व्यवस्था रहती है। इसमें खास सामान जेवर आदि रखा जाता है। मवासे ऊपर–नीचे जाते समय पिटारी को अपने पीठ में रखकर ले जाते हैं। कृषि उपयोगी सामान हाला–भाना को रखने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।

कुटीर उद्योग :– किसी भी समाज के लिए उसके आर्थिक ढाँचे का टूटना अथवा कमजोर पड़ना उसके जीवन–मरण का प्रश्न पैदा करता है। नये आर्थिक आधार की तलाश अपने आप में अत्यन्त जटिल समस्या है। नये आर्थिक आधार के साथ पैतृक जीवन शैली में आवश्यक परिवर्तन लाना गहन सामाजिक परिवर्तन की पीड़ा पैदा करना है। यह शौका समाज की शक्ति तथा उसकी जिजीविषा का परिचायक है कि उसने संक्रमण काल की कठिनाइयों के बीच अपना अस्तित्व बनाये रखा है। सीमान्त क्षेत्र के भौगोलिक वातावरण से भी इस समाज की आर्थिक स्थिति बदलती रहती है। पथरीली चट्टानों के निवासी होने के कारण शौका परिश्रमी, कर्मठ तथा साहसी होते हैं। उत्पादन के साधनों का अभाव, यातायात की असुविधा, प्रतिकूल

शौकाओं द्वारा रिंगाल से तैयार की गई टोकरियां

वातावरण तथा उद्योग–धन्धों का अभाव होते हुए भी इन्होंने अपने परिश्रम तथा विलक्षण प्रतिभा के द्वारा अपने आर्थिक व्यवस्था के ढाँचे को सुदृढ़ बनाये रखा है।

ऊन तथा ऊनी वस्त्र उद्योग :– प्राचीन समय से ही समस्त शौकाओं की अर्थव्यवस्था पूर्णरूप से उनके पैतृक व्यवसाय ऊन व्यवसाय पर ही आधारित है। जब शौका पुरुष हिमालय के पार तिब्बत या दक्षिण के उप हिमालय क्षेत्र के भ्रमण अथवा व्यापार में व्यस्त होते हैं उस अवधि में शौका स्त्रियां ऊँचाई वाली बस्तियों या घाटियों में स्थित अपने घरों में रहती हैं। घरों में अकेले रहने तथा पर्याप्त समय होने के कारण शौका महिलाओं

ने ऊन की कताई–बुनाई से टिकाऊ व खूबसूरत ऊनी वस्त्र तैयार करने की कला में अपनी विशेष अभिरूचि को विकसित किया है। इनकी इस प्रकृति तथा अभिरूचि को स्वयं उन्हीं की भेड़–बकरियों से तथा तिब्बत के बाजारों में आसानी से पर्याप्त व अपेक्षित मात्रा में प्राप्त होने वाले कच्चा ऊन से काफी प्रोत्साहन मिला है। शौका भेड़ों के झुण्ड को अपना धन मानते हैं। शौकाओं का जीवन पूर्णतया उसकी भेड़–बकरियों पर निर्भर होता है, जिनसे उनको दैनिक भोजन हेतु खाद्यान्न की प्राप्ति होती है। सामग्री ढोना ही नहीं अपितु भेड़ों को लादने के लिए करबच तथा ऊनी वस्त्रों की पूर्ति भी उसकी भेड़–बकरियों से ही होती है। भेड़ों के बालों व ऊन का प्रयोग तम्बू, छोलदारी को बांधने की रस्सी, थैले तथा ऊनी वस्त्र बनाने में होता है। जब तक ये भेड़–बकरियां जीवित रहती हैं उनका उपयोग भारवाहक पशुओं तथा ऊन आपूर्ति के साधन के रूप में होता है तथा मृत्यु हो जाने पर उनकी ऊन व खाल का उपयोग गृहस्थी के फर्नीचर आदि में होता है। भेड़–बकरियां ही शौकाओं के जीवन का आधार व सहारा होती हैं।

कृषि :– शौका अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शौका एक कुशल व्यापारी ही नहीं अपितु एक अच्छा कृषक भी है। कृषि योग्य भूमि का अभाव तथा अधिक ऊँचाई पर शीत की अधिकता के कारण कृषि शौका समाज के आर्थिक जीवन का प्रमुख आधार कभी नहीं बन सकी। यहाँ जितनी भी भूमि कृषि योग्य है, उसका भरपूर उपयोग इस कर्मठ जाति ने किया है तथा एक कुशल कृषक के रूप में अपनी अलग पहचान बनायी है। शौका समाज के लोकगीतों में भी कृषि सम्बन्धी गीतों का पाया जाना, कृषि सम्बन्धी उत्सव तथा त्योहार का मनाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि कृषि व्यवसाय भी शौका समाज का अभिन्न व्यवसाय रहा है। यद्यपि दुर्गम निवास स्थान व कठिन प्राकृतिक परिथितियों के कारण कृषि शौका समाज का प्रमुख आधार नहीं बन सकी।

तथापि, जहाँ भी कृषि योग्य भूमि है वहां इस जनजाति ने उसका भरपूर प्रयोग किया है। सामान्यतया कृषि निचली घाटियों में ही हो पाती है। तल्ला जौहार तथा चौंदास में धान, राजमा आदि का उत्पादन होता है। कृषि भौगोलिक तथ्यों के आधार पर निश्चित होती है। ऊँचाई, वर्षा, जलवायु, मिट्टी की किस्म तथा यातायात की सुविधाएं आदि कृषि के लिए भौगोलिक दृष्टि से अनुकूल नहीं है। इस क्षेत्र की कृषि पुरातन पद्धति की है तथा छोटे–छोटे टुकड़ों में सीमित नदियों की घाटियों में बिखरी है। ये बिखरे खेत पर्वतीय मरुस्थलों में नखलिस्तान के समान प्रतीत होता है जो कि लाभकारी कृषि के लिए अत्यधिक बीहड़ तथा शीतप्रद है।

क्षेत्र की दृष्टि से शौका लोग कृषि पर बहुत कम निर्भर रहते हैं। वे इसे वैकल्पिक तथा गौण व्यवसाय के रूप में केवल मध्य मई से मध्य अक्टूबर के पाँच महीने तक करते हैं। कृषि के इनके तरीके तथा उपकरण बहुत बेडोल होते हैं। खेत जोतने के लिए हल बैलों द्वारा चलाया जाता है। यदा–कदा याक तथा गाय से उत्पन्न प्रजाति के झुप्पु को भी हल खींचने के काम में लाया जाता है। सीमान्त क्षेत्र के शौका पुरुष व्यापार के उद्देश्य से घर से बाहर रहने के कारण कृषि सम्बन्धी समस्त कार्य यहां की कर्मठ नारियां सम्पन्न करती हैं। भौगोलिक परिस्थिति के कारण शौका कृषि को अपने मुख्य व्यवसाय के रूप में न अपना सके। व्यापार ही इनके जीवन का मुख्य आधार बना रहा। शौका समाज खेतीहर कदापि न था। महिलाएं कठोर परिश्रम द्वारा ऊँचाई पर स्थित ढालूदार व उबड़–खाबड़ भूमि में खेत तैयार कर फसल उगा लेती थी।

व्यापार के बाद कृषि इनका मुख्य व्यवसाय है। शौका जनजाति वर्ष में प्रथम छह महीने अपने ऊपर

सामान ढोते झुप्पू का एक चित्र

ग्रीष्मकालीन पहाड़ियों में तथा बाद के छह महीने नीचे शीतकालीन घाटियों में निवास करते हैं। इस संदर्भ में रमेश चन्द्र तिवारी लिखते हैं– शौका जनजाति ऊँचे पर्वतों में रहकर व्यापार तथा पशुपालन किया करती थी, क्योंकि उस समय इन दोनों व्यवसायों का महत्व था। वर्तमान में ये लोग निचली घाटियों के इलाकों में आकर खेती किया करते हैं। ऊँचाई पर स्थित गाँवों में जहाँ ग्लेशियर निर्मित मैदान मिलते हैं। वहाँ घोड़े, बैल तथा झुप्पु से खेत जोते जाते हैं। जुताई का कार्य कुमाऊँ की भाँति प्रायः पुरुष वर्ग के लोग करते हैं।

पशुपालन व्यवसाय :– शीत प्रधान देश जौहार तथा परगना दारमा (व्यांस, चौंदास, दारमा) अनुर्वरक भूमि में कृषि करने की अपेक्षा उत्तर में तिब्बत तथा दक्षिण में कुमाऊँ के साथ व्यापार करना हितकारी सोचकर पशुपालन व्यवसाय शौका जाति के लिए अधिक उपयोगी रहा है। क्योंकि अतीत में भेड़–बकरियां ही पहाड़ के दुर्गम मार्ग के लिए यातायात का मुख्य साधन थी। तिब्बत से लेकर कुमाऊँ, गढ़वाल तथा नेपाल के दूरस्थ पर्वतीय अंचलों तक नमक, ऊन, गुड़ व तेल आदि उपयोगी वस्तुएं पहुंचाने का कार्य भेड़–बकरियों द्वारा ही होता है। इस क्षेत्र में यातायात के साधनों की कमी, व्यापार में आयात–निर्यात की वस्तुओं का परिवहन, अल्पाइन घास के ढालों की प्रचुरता तथा आवास परिवर्तन प्रथा ने पशुपालन व्यवसाय को बढ़ावा दिया। कृषि उद्योग के साथ पशुपालन शौकाओं का सहायक धंधा रहा है। पशुओं को क्रय करने पर यहाँ जुम्को उत्सव मनाया जाता है जिसमें सींग तथा माथे पर घी अर्पित होता है। पशुओं की कीमत उतनी कभी नहीं होती जिसकी इकाई की संख्या में शून्य हो जैसे– 10, 50, 100, 1000। प्रायः ऐसी संख्याओं में एक बढ़ा दिया जाता है। शौका समाज में तीन अंक, तीन शब्द, व तीन वस्तु को शुभ माना जाता है। इस समाज में पशुओं का बहुत महत्व है। इनके लिए यहां पाला जाने वाला पशु कामधेनु है। पशुपालन व्यवसाय में भेड़ों का प्रमुख स्थान है। यहां भेड़ पालन का धंधा बहुत पुराना है। मरण संस्कार की कथा में भी इसका जिक्र आता है। करपच भेड़ की ऊन से निर्मित थैला होता है जिसमें सामान भरकर इसी भेड़ के ऊपर लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजा जाता है। इस तरह भेड़ इस समाज में वह कार्य करती है जो तिब्बत में याक, रेगिस्तान में ऊंट तथा टुण्ड्रा प्रदेश में रेन्डियर कर सकते हैं। दुर्गम पहाड़ क्षेत्र में जहां घोड़े तथा झुप्पु नहीं जा सकते वहां प्रत्येक भेड़ करपच में 20–25 किलो का वजन आसानी से ले जा सकती है। इन भेड़ों से वर्ष में दो बार ऊन काटा जाता है।

*****

क्रांतिकारियों का तीर्थस्थल : अण्डमान

अखिलेश आर्येन्दु
साहित्यकार, त्यागी विहार,
नांगलोई, दिल्ली

अण्डमान निकोबार द्वीप का क्षेत्रफल भले ही छोटा हो लेकिन इसकी ऐतिहासिकता अत्यंत हृदयविदारक है। आज का अण्डमान व्यवस्था और परिस्थितियों की दृष्टि से प्राचीन एवं ब्रिटिश कालीन अण्डमान से बहुत भिन्न है। यहां हिंदी और अंग्रेजी दो मुख्य भाषाएं बोली जाती हैं। ऐसा लगता है जैसे यह उत्तर भारत का कोई जनपद हैं जहां पग–पग पर सांस्कृतिक विविधता पाई जाती है। स्वतंत्रता के उपरान्त यह प्रदेश धीरे–धीरे विकसित हुआ और आज यहां स्वच्छता, यातायात, स्वास्थ्य–सेवा, शिक्षा, प्रकाश व्यवस्थाा, संचार, मीडिया का प्रसार का विपुल विस्तार हुआ है। हरे–भरे बगीचे, नारियल के ऊँचे–ऊँचे वृक्ष, धान और फलों की पैदावार खूब होती है। आज अण्डमान एक सुविधा सम्पन्न और विकसित द्वीप–समूह बन गया है लेकिन शताब्दियों पहले यही अण्डमान सभ्यता और संस्कृति से दूर मात्र जंगल में निवास करने वाली जातियों का आश्रय स्थल था। ब्रिटिश भारत में यह द्वीप–समूह स्वतंत्रता संग्रम के भारतीय योद्धाओं का भयंकर यातनागृह (कालकोठरी या कालापानी) और कब्रिस्तान था। सांस्कृतिक और आर्थिक विकास होने के बाद किस तरह की उन्नति यहां हुई है, यहां आकर देखने से पता चलता है।

अण्डमान निकोबार इतिहास के पन्नों पर अंकित तो दो हजार वर्ष पहले ही हो चुका था, लेकिन जब दूसरी शताब्दी में किलोडियस टोलौमी ने बंगाल की खाड़ी में भ्रमण करते हुए इन द्वीपों को देखा, तब वहां के निवासियों के संबंध में विस्तार से बताया। सन् 607 में यहां चीन की महारानी का एक दूत आया और उसने इसे राक्षसी प्रदेश बतलाया। सन् 672 में चीनी यात्री इत्सिङ्. इन द्वीपों से गुजरता हुआ भारत आया था। इसने भी अण्डमान निकोबार के निवासियों के संबंध में विरोधी बातें लिखीं। अण्डमान में विदेशी आते रहे और यहां के निवासियों के संबंध में अपने अनुभव साझा करते रहे। इसी क्रम में दो अरब सैलानियों ने अण्डमान की यात्रा की। इन यात्रियों ने अपने अनुभव के आधार पर जो लिखा, वह पूर्व के यात्रियों जैसा ही है, लेकिन स्त्रियों के संबंध में अधिक लिखा। तंजौर के शिलालेखों (सन् 1050) से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश अपवित्र और जंगली जातियों द्वारा बसाया गया। समय धीरे–धीरे जैसे व्यतीत हुआ। अण्डमान में विदेशियों का आने का क्रम गति पकड़ने लगा। 11वीं शताब्दी में यहां पुर्तगाली आए और उन्होंने जबरन अण्डमान को अपने कब्जे में ले लिया, लेकिन पुर्तगाली यहां के निवासियों के साथ घुलमिल नहीं पाए, जिससे आए दिन यहां के मूल निवासियों और पुर्तगालियों में युद्ध की स्थिति बनी रहती थी। सन् 1286 ई. में मार्को पोलो, सन् 1332 ई. में फ्रायर ओडेरिक तथा सन् 1430 में निकोलो कोन्टी ने यहां के द्वीपों का भ्रमण किया और यहां की स्थितियों को समझा। यहां के जंगल में रहने वाले मूल निवासी अनपढ़ तो हैं ही, बुद्धि से भी हीन हैं जिसका लाभ उठाकर इनको मलायावासी सैकड़ों वर्षों तक कम्बोडिया, स्याम, और इन्डोचाइना में गुलाम बनाकर बेचते रहे। यह अंग्रेजों के भारत पर शासन करने द्वारा पूर्व का इतिहास है।

ब्रिटिश शासकों का अण्डमान पर अधिकार

इस द्वीप–समूह पर भ्रमण के उद्देश्य से यहां जो भी आया, वह यहां के मूल निवासियों के द्वारा मार डाला गया या उसका सामान–अस्बाब लूट कर उसे भागने के लिए विवश कर दिया गया। समुद्री वातावरण की स्थितियों से अनभिज्ञ यात्रियों ने यहां के निवासियों से मेल–जोल बढ़ाने के प्रयास तो किए, लेकिन कोई सफल नहीं हो पाया। सन् 1789 ई. में लेफ्टिनेंट कोलोब्रुक व विलेयर यहां कुछ बाहरी मनुष्यों को बसाने के उद्देश्य से सर्वेक्षण करने आए और भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड कार्नवालिस के नाम पर इनका नाम पोर्ट कार्नवालिस रखा गया तथा राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए उत्तर पूर्वी बंदरगाह समिति को सौंप दिया गया। प्रथम बार कोई विदेशी आकर यहां अपनी गतिविधियां चलाने में सफल हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि यहां अकूत मात्रा में रत्नादि की खोज के कार्य में यहां के मूल निवासी कोई हस्तक्षेप नहीं कर पाए। सन् 1837 में सोने की खान की खोज में रूस के प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री डॉ. हैलफर यहां आए, लेकिन यहां के मूल निवासियों के द्वारा मार डाले गए। इसी प्रकार सन् 1844 ई. में फौजियों को सिडनी से लेकर आ रहे दो जहाज यहां आकर टकरा गए। जहाजों का टकराना था कि वहां उपस्थित अण्डमानियों ने उन्हें मौत के घाट उतार दिया। अंग्रेजी शासन ने बहुत सूझबूझ के साथ 1858 ई. से इस द्वीप–समूह को दण्ड–उपनिवेश के रूप में काम लेना प्रारम्भ किया जो आगे चलकर भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के लिए यातनागृह के रूप में इतिहास में प्रसिद्ध हुआ।

अंग्रेजों द्वारा अण्डमान निकोबार का उपयोग भारतीय स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के लिए यातना गृह और फांसीगृह के रूप में किया गया। इनको विकसित करने के पीछे का उद्देश्य भारतीयों का साहस, संकल्प और देशभक्ति की भावना को क्रूर तरीके से कुचलना तो था ही, समुद्री डकैतों पर नियंत्रण करना भी था। इस उद्देश्य से सन् 1857 के प्रथम क्रांति के वीर सपूतों को अभियुक्त बनाकर यहां लाया गया और भंयकर यातनाएं दी गईं और अनगिनत वीरों को फांसी की सजा दी गईं। सन् 1858 में अण्डमान कमीशन के अध्यक्ष डॉ. एफ.टी. मुआट ने इस टापू का नाम बदल कर पोर्ट ब्लेयर कर दिया। इसके पीछे अंग्रेजों का उद्देश्य भारतीय स्वतंत्रता के वीर योद्धाओं को यहां लाकर उनके साथ मनमाना व्यवहार करना और मनमाने तरीके से उनसे काम लेकर उनके हौसले को पस्त करना था। अण्डमान और निकोबार में जो यातनागृह बनाया गया, उसका सुपरिन्टेन्डेन्ट क्रूरता का पर्याय माने जाने वाले डॉ. जे.पी. बाकर को बनाया गया। डॉ. बाकर के साथ चार अन्य अंग्रेज अफसर और 200 भारतीय कैदी यहां पहली बार भेजे गए। और आगे के तीन महीने में पांच सौ से अधिक कैदी यहां लाए गए। कैदियों के यहां आने के बाद पूरे अण्डमान और निकोबार में तीन महीने तक सफाई अभियान कैदियों के द्वारा चलाया गया। भारत से भेजे गए कैदी यहां आकर बीमार हो गए और लगभग तीन सौ कैदियों की मृत्यु हो गई। 130 कैदियों ने जंगल की ओर भागने का प्रयास किया जिन्हें वहां के आदिवासियों ने क्रूरता के साथ मार गिराया। लेकिन बैरकपुर की पैदल–सेना के प्रमुख दूधनाथ तिवारी किसी तरह बच निकले। समुद्री मार्ग से तैरकर भागने की एक अन्य चेष्ठा में दीनापुर, बिहार के एक सिपाही नारायण, जिसे 250 कैदियों के साथ उपनिवेश के एक अन्य द्वीप पर ले जाया जा रहा था। उन्होंने जलपोत से समुद्र में छलांग लगा दी, लेकिन क्रूर हत्यारे कप्तान बाकर ने उनके ऊपर गोली चलाकर मार डाला। नारायण ऐसे महान वीर योद्धा थे जिन्होंने अंग्रेजों की उपनिवेशी नीति और वहां के कैदियों के लिए बनाए गए कानून को कभी माना ही नहीं। पोर्ट ब्लेयर के जिमखाना मैदान पर बना स्मारक आज भी उनके अदम्य साहस की गवाही दे रहा है।

सन् 1865 में यहां कैदियों की संख्या 8875 तक पहुंच गई। इतनी बड़ी संख्या में कैदियों का यातना गृहों में एक साथ रखना संभव नहीं हुआ तो कैदियों से ही बायलर द्वीप पर जेल की बैरकें बनवाई गईं और इनसे 300 एकड़ भूमि साफ कराकर कृषि योग्य बनाई गईं। लेकिन यहां का वातावरण किसी के अनुकूल न होने और मलेरिया के बढ़ते प्रकोप के कारण यह यातनागृह छोड़ना पड़ा। लेकिन अण्डमान में कैदियों का आना बराबर बना रहा और इसी दौरान बहावी आंदोलनकारियों, मणिपुरी विद्रोहियों व थरवड्डा आंदोलनकारियों के विद्रोहियों को भी यहां भेजा गया। इन कैदियों में शेरअली नाम का एक सचमुच शेर था, जिसने द्वीप पर टी.वी. सैनेटोरियम की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान की खोज में आये हुए भारत के तत्कालीन वायसराय लॉर्ड मेयो की 8 फरवरी 1872 को बैम्बू द्वीप के किनारे झाड़ियो के पीछे से उछलकर छुरा घोंपकर हत्या कर दी। अण्डमान के प्रारम्भिक काल के अन्य मुस्लिम देश भक्तों में इलाहाबाद अब प्रयागराज के लियाकत अली तथा असम के शेख फयूर्द का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वायसराय की हत्या के बाद शेरअली को भारत लाकर फांसी पर लटका दिया गया, लेकिन ब्रिटिश शासकों को यह बात समझ में आ गई कि उनके द्वारा भारतीयों पर किए जा रहे दमन–अत्याचार से भारतीय स्वतंत्रता के योद्धा दबने वाले नहीं हैं। सन् 1876 में अण्डमान–निकोबार रेगुलेशन पास हुआ तथा पोर्ट ब्लेयर में सेलुलर जेल का निर्माण कैदियों द्वारा जबरन कराया गया। सन् 1889 ई. में पूना राज्य में असफल विद्रोह का नेतृत्व करने वाले बासुदेव बलवन्त फड़के को उनके 30 साथियों सहित अण्डमान भेजा गया। सन् 1900 तक यहां राजनीतिक बन्दियों में पुरुषों की संख्या 13,634 और महिलाओं की संख्या 772 को मिलाकर 14,406 हो गई। इनमें ऐसे प्रसिद्ध स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी थे जो अंग्रेजों की दृष्टि में खतरनाक माने जाते थे, जिनमें वीर सावरकर, हेमचन्द्र दास, उल्लाखकर दत्त, ह्रषीकेश कांजी लाल, वारीन्द्र कुमार घोष, विभूति भूषण सरकार, इन्द्रभूषण

सेल्युलर जेल, अंडमान

राय, अविनाश चन्द्र भट्टाचार्य, कल्तबा हुसैन जैसे नाम प्रमुख थे।

घोर नारकीय यातनागृह यानी सेल्यूलर जेल की कहानी स्वतंत्रता संग्राम का वह काला अध्याय है जिसे पढ़ कर रूह कांप जाती है। 1906 में जब यह जेल बनकर तैयार हुई तब इसे सेल्यूलर जेल नाम अंग्रेजों के द्वारा दिया गया, क्योंकि एक वृत्तचित्र में उन्हें समायोजित करने के बजाय प्रत्येक जेल के लिए सेल बनाए गए थे। मूल रूप से एक केंद्रीय टॉवर के साथ सात लम्बी, धूसर रंग की इमारतें थीं। बाद में इस इमारत को क्षतिग्रस्त कर दिया गया गया मात्र तीन मंजिल ही बची। जेल की प्रत्येक कोठरी 13.5 फीट चौड़ी थी और एक कैदी को एकांत कारावास में रखा गया। सेल्यूलर जेल की वास्तुकला की अवधारणा 'पेसिल्वेविया प्रणाली या अलग सिद्धांत के आधार पर गई है। सेलुलर जेल की डिजाइन पैनोप्टीकॉन से काफी प्रभावित किया।

आज भी यहां ब्रिटिश शासन की क्रूरताओं की गवाही देने वाले और अनेक यातनाओं में प्रयोग की जाने वाली वस्तुएं और औजार सुरक्षित रखे हुए हैं जिनमें कोल्हू (जिसमें बैलों के स्थान पर कैदियों को बोधा जाता था) बेड़ियां, क्रॉसबार और पैर की लोहे की जंजीरें प्रमुख हैं। ये वस्तुएं कैदियों को दी जाने वाली नारकीय यातनाओं और क्रूर दंड के हिस्से के रूप में कैदियों को दिए गए अमानवीय व्यवहार की गवाही देते हैं। जेल में सात बैरकें बनाई गई थीं जिनमें कैदियों पर पहरा देने के लिए चौरासी कैदी पहरा देने के लिए लगाए जाते थे। यदि पहरा देने में कोई आनाकानी करता था तो उसे क्रूरतम यातनाएं दी जाती थीं जिससे कोई अन्य पहरेदार किसी प्रकार की असावधानी न करे और डरता रहे।

यातनागृह, यानी काला पानी की सजा वाला यह प्रसिद्ध स्थान आज भी अंग्रेजी शासन की क्रूरताओं और हिंसात्मक व्यवहारों के खुला दस्तावेज है। अंग्रेजों की नारकीय यातनाओं के विरोध में अण्डमान की जेल में रहने वाले भारत के स्वतंत्रता संग्राम के योद्धाओं ने 1915 के बाद भूख हड़ताल करना प्रारम्भ किया। कैदियों पर सजा के नाम पर अनगिनत अमानुषिक अत्याचार किए गए, जिन्हें शब्दों के द्वारा व्यक्त करना असंभव है। फिर भी आजादी के दन वीर सेनानियों ने स्वतंत्रता गीत गाने नहीं छोड़े। सावरकर बंधुओं के अतिरिक्त, यहां सतीन्द्र सान्याल, बाबा सोहन सिंह, वारीन्द्र घोष, सरदार मान सिंह और पं. रामरक्ष ने यहां आकर ब्रिटिश यातनाओं का विरोध ही नहीं किया बल्कि वे भारत की स्वतंत्रता के प्रयासों को आगे बढ़ाने के लिए भी कार्य करते रहे। अट्ठारह वर्षीय इन्दुभूषण राय शरीर निचोड़ देने वाली यातनाओं से इतने तंग आ गए कि एक दिन उन्होंने अपने जांघिए का कपड़ा फाड़कर गले में गांठ लगा ली और वे रोशनदान से लटक कर आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो गए। उल्लासकर दत्त को नारकीय यातनाएं दी गईं, जिससे वे पागल हो गए। कई गदर पार्टी के सदस्यों को भी नारकीय यातनाएं देकर मार डाला गया फिर भी क्रांतिकारियों ने सद्व्यवहार, अच्छा भोजन, पुस्तक तथा लेखन सामग्री आदि की मांग न छोड़ी। क्रांतिकारियों ने अपने ऊपर हुए अत्याचारों की कहानी भारत में भेज दी। इसका प्रभाव यह हुआ कि भारत में इनके समर्थन में अनेक क्रांतिकारी नेता आ गए और भारत में ब्रिटिश शासन के सामने क्रूरताओं के विरोध में आंदोलन चलाने लगे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने जब काउन्सिल में सवालों की बौछार की तो 1926 में कैदियों को वापस भारत भेज दिया गया। लेकिन इसी समय अंग्रेज शासन ने दिखावा किया और एक जेल कमीशन का गठन यह मालूम करने के लिए किया कि कैदियों को ऐसी यातनाएं न दी जाएं जो उनके अपराध से अधिक हों। सर अलेक्जेन्डर ने जांच करके इस दण्ड उपनिवेश को समाप्त करने की सलाह दी, लेकिन सुपरिन्टेन्डेन्ट कर्नल बीडन ने इसका

विरोध किया। इसके कारण यह उपनिवेश तो समाप्त न हुआ, पर यह तय हुआ कि अपनी मर्जी से आने वाले कैदी ही यहां भेजे जाएंगे, जो अपनी गृहस्थी भी साथ ला सकेंगे। लेकिन तय नियम से ब्रिटिश शासन मुकर गया। इसी दौरान ट्रावनकोर कोचीन राज्य के मोपलाओं का गदर हुआ और वे सैकड़ों की संख्या में यहां भेजे गए। ब्रिटिश प्रशासन अपनी प्रतिबद्धता से मुकरते हुए 1928 से 1936 के मध्य लाहौर षड्यंत्र केस, काउंसिल बम केस, चरगांव–आरमरी रेड केस से ताल्लुक रखने वाले चार सौ के करीब बंदियों को यहां भेजा गया। इनके साथ वहीं व्यवहार पुनः दुहराया जाने लगा जैसे पूर्व के बंदियों के साथ किया जाता था। ऐसे में क्रांतिकारियों के पास भूख–हड़ताल करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। 52 दिनों तक भूख–हड़ताल के दौरान यहां के प्रशासकों ने नाक में रबड़ की नली लगाकर जबरन तरल भोजन व दूध पिलाने के प्रयास किए जिससे कई क्रांतिकारियों के फेफड़े में दूध भर जाने के कारण मृत्यु हो गई। बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा और पंजाब जैसे अनेक राज्यों के युवकों की मृत्यु से देश में कोहराम मच गया। यह देख रवीन्द्र नाथ टैगोर ने शासन को चेतावनी दी लेकिन इसका कोई विशेष प्रभाव ब्रिटिश अधिकारियों पर नहीं हुआ। और अंतिम भूख–हड़ताल जुलाई 1937 में हुई जिसका प्रभाव सारे देश में हुआ। अन्ततोगत्वा गांधीजी और अन्य नेताओं के प्रयत्न से 1937 के सितम्बर महीने से राजनैतिक कैदियों की स्वदेश वापसी सुनिश्चित हुई। सन् 1938 में बर्मी कैदियों को भी वहां से उनके मूल स्थान भेज दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश शासन ने अण्डमान की काल कोठरियों में हजारों भारतीय क्रांतिकारियों के साथ जिस तरह से अमानवीय व्यवहार किया, वह विश्व इतिहास में एक ऐसे काले धब्बे के रूप में अंकित हो गया, जो मानवता के इतिहास के सबसे गंदे पृष्ठों में गिना गया।

सन् 1943 ई. में 5 और 6 नवम्बर को टोकियो में एक बृहत्तर पूर्व–एशियाई कांफ्रेंस हुई जिसमें जनरल तोजो ने जापान सरकार की ओर से अण्डमान एवं निकोबार द्वीप–समूह को, भारत की आंतरिम आजाद हिंद सरकार को सौंपने की घोषणा की। अण्डमान निकोबार में भारतीयों की प्रथम स्वतंत्र सरकार के गठन का मार्ग प्रशस्त हुआ। आजाद हिंद सरकार के प्रमुख की हैसियत से 8 नवम्बर 1943 को नेताजी सुभाष चन्द्र बोस ने एक प्रेस वक्तव्य जारी किया तथा अण्डमान एवं निकोबार द्वीप–समूह को क्रमशः 'शहीद द्वीप और 'स्वराज्य द्वीप'–ये दो नाम दिए। इससे भारतीयों में खुशी की लहर दौड़ गई। 29 दिसम्बर को नेताजी पोर्ट ब्लेअर पर उतरे और बड़ी ललचाई दृष्टि से अपनी मातृभूमि भारत की ओर देखा। सारे देश में यह समाचार बिजली की तरह दौड़ गया। नेताजी का यहां आना कई मायने में ऐतिहासिक तो था ही, स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिवीरों के लिए भी किसी संजीवनी से कम नहीं था।

अण्डमान निकोबार में नेता जी के पैर रखते ही जापानी एडमिरल ने उन्हें फौजी सलामी देकर उनका स्वागत किया। अण्डमान में आने के बाद नेता सुभाष उन यातनागृहों को देखने गए जहां हजारों भारतीय क्रांतिवीरों को क्रूर यातनाएं दी गई थीं। नेताजी ने उन यातनागृहों में जाकर कुछ क्षण बहुत शांत भाव से खड़े रहे। फिर नेताजी नें अण्डमान प्रशासन को अपने हाथ मे लेने की खुशी में प्रीति भोज का आयोजन किया। जिसमें वहां उपस्थित सभी तरह के व्यक्तियों ने बड़े उत्साह से भाग लिया। बाद में बैंकाक जाते हुए नेताजी ने मेजर जनरल लोकनाथन को अण्डमान निकोबार द्वीप–समूह का गवर्नर नियुक्त किया। नागरिक प्रशासन आजाद हिंद फौज के हाथों में आ गया, लेकिन सैनिक प्रशासन पूरी तरह जापान के हाथों में रहा। इस तरह अण्डमान पर आजाद हिंद फौज का झण्डा फहराया गया।

****

झालरापाटन के प्राचीन मन्दिरों का अद्भुत शिल्प वैभव

ललित शर्मा
'अनहद' 15, मंगलपुरा,
झालावाड, राजस्थान

राजस्थान के झालावाड़ जिले के अंतर्गत झालरापाटन नगरी में कला शिल्प के ऐसे दो अनुपमेय मन्दिर हैं जिनकी, निर्माण और स्थापत्य कला का अवलोकन एवं दिग्दर्शन करने विश्व के कई देशों के शोधार्थी और सैलानी वर्ष भर आते हैं। इन दो मन्दिरों को क्रमशः ''पद्मनाभ मन्दिर'' और ''शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर'' के नाम से जाना जाता है। राजस्थान और मालवा प्रदेश के हृदय स्थल पर स्थित इन मन्दिरों के कला अनुशीलन से इन दोनों प्रदेशों की 10वीं और 11वीं सदी की मन्दिर निर्माण कला परम्परा तथा शैली व स्थापत्य कला को समझा जा सकता है। इस आलेख में इसी कलाशिल्प के मंदिरों पर प्रकाश डाला गया है।

पद्मनाभ सूर्य मन्दिर

पद्मनाभ सूर्य मंदिर

प्रख्यात् पुराविद् कृष्णदेव राय के मतानुसार, झालरापाटन का पद्मनाभ मन्दिर कच्छपघात शैली का अनुपमेय नमूना है। उनके मतानुसार भारत के जिन मन्दिरों में विशाल एवं उत्तुंग शिखर, मेरू मण्डोवर, स्तम्भों पर घटपल्लवों का अंकन एवं पंचशाखा द्वार, जिनमें से एक द्वार सर्पों द्वारा वेष्टित हुआ हो, आदि विशेषताओं से युक्त मन्दिरों को 'कच्छपघात' शैली का माना जाता है। सूर्य की इस पर प्रथम किरण पड़ने से आमजन इसे 'सूर्य मन्दिर' मानता है। झालरापाटन के हृदय स्थल पर अवस्थित यह एक विशाल मन्दिर है। कर्नल टाड ने इसे 'चारभुजा का मन्दिर' कहा है। इस पूरे मन्दिर में सूर्य और विष्णु के सम्मिलित भाव की एक ही मूर्ति मण्डोवर के पीछे की मुख्य रथिका में है। इसके अतिरिक्त, अन्य शिव परिवार की ही अधिक मूर्तियां उकेरी गई हैं। गर्भगृह के बाहर उत्तरांगपट्ट पर शिवताण्डव की नृत्य मूर्ति है।

शिल्प शास्त्रों में यह भी उल्लेख मिलता है कि जिस देवता की मूर्ति उत्तरांगपट्ट पर स्थापित हो, वह उसी देवता से सम्बन्धित मन्दिर होता है। यहाँ शिव के साथ साथ मातृकाओं की भी मूर्तियां हैं। यह मन्दिर मूल रूप से 10वीं शताब्दी का बना हुआ है। इसमें 16वीं शताब्दी में आवश्यक जीर्णोद्धार हुआ था। इसका एक शिलालेख जो संवत् 1632 का है, इसके शिखर भाग में लगा हुआ है जिसमें 'सूत्रधार' का उल्लेख है। 19वीं शताब्दी में यहां छतरियां बनीं तथा इस मन्दिर का

जीर्णोद्धार किया गया। सम्पूर्ण हाड़ौती क्षेत्र में इतना विशाल एवं सुन्दर उत्कीर्ण स्तम्भों वाला ऐसा मन्दिर अन्यत्र दिखाई नहीं देता है। इस मन्दिर में गर्भगृह, अन्तराल मण्डप, विशाल तथा कलात्मक सभामण्डप एवं तीन ओर तोरणद्वार हैं। यह मन्दिर शिखर तक 97 फीट ऊँचा है।

गर्भगृह के बाहर का भाग सुन्दर ढंग से उत्कीर्णित है। नीचे गज और शार्दूल बने हैं। उनके ऊपर देवी मूर्तियां एवं उनके ऊपर गंगा–यमुना आदि की मूर्तियां हैं। गर्भगृह के बाद अन्तराल मण्डप में दोनों ओर दो रथिकाएं हैं। इन रथिकाओं के ऊपर शिव–पार्वती और कुबेर दमयन्ती की मूर्तियां हैं। सभा मण्डप में अनेक कलात्मक तथा विशाल स्तम्भ हैं। इन पर कई रथ बने हैं। मध्य में एक चमर धारणी एवं ऊपर तीन खण्डों में पुरुष युग्म बने हैं। यह सभी स्तम्भ अष्टकोणीय हैं। इन स्तम्भों पर शृंखलाएं लटकी हुई हैं। इनके ऊपर भारवाहक कीचक बने हैं और उनके ऊपर सुन्दर मकराकृतियां बनी हैं। ऊपर के वितान का भाग 16वीं शताब्दी का बना है। केवल अन्तराल मण्डप का वितान भाग समसामयिक है जो क्षिप्रलुम्बिका युक्त है। मन्दिर के ऊपरी भाग में कई सुन्दर मूर्तियों का अंकन दृष्टव्य है।

देवालय का शिखर भाग उल्लेखनीय है। शृंगों के नीचे तथा मण्डोवर भाग के बीच में ऊपर दोनों ओर गोलाई लिए आकर्षक चैत्यों का अंकन है। इसमें उत्तर की ओर बंशीधारी गन्धर्व की मूर्ति तथा दक्षिण की ओर मुख्यरथिका में हिरण्यकश्यप वध (नरसिंह अवतार रूप में) दृष्टव्य है। इसके नीचे की रथिका में देवी मूर्ति है। इसके ठीक पीछे की रथिका में त्रिमुखी सूर्यमूर्ति है जिसमें विष्णु का भाव मिश्रित है। इसमें दण्डी, पिंगल बने हैं। इसके नीचे की रथिका में देवी मूर्ति है। उत्तर की रथिका में चतुर्बाहु वराह को मुख की दन्त कोटि से पृथ्वी (भूदेवी) को उठाता हुआ तथा एक चरण नाग पर रख कर उसे दबाते हुए दर्शाया गया है। संभवतः यह नागों पर विजय का भाव हो। मुख्य रथिकाओं के अलावा मण्डोवर भाग के ऊपर की पंक्ति में सुर–सुन्दरियों का अंकन है। बीच–बीच में व्याल बने हैं। सुन्दरियों को कई भाव–भंगिमाओं में दर्शाया गया है।

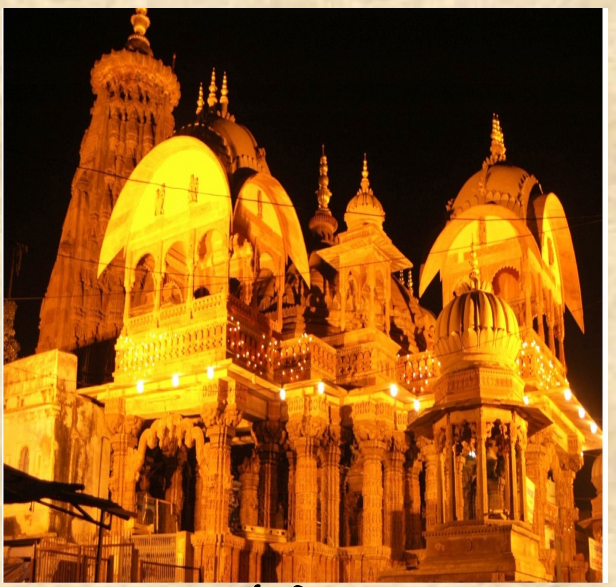

सूर्य मंदिर, झालरापाटन

मन्दिर के मूल गर्भगृह में पद्मनाभ (विष्णु) की लघु श्यामल पाषाण की सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित एवं सुपूजित है। परन्तु यह मूल मूर्ति नहीं है, अपितु बहुत बाद के काल की स्थापित की गई प्रतीत होती है। मन्दिर के गर्वोन्नत शिखर का स्वरूप कमल पुष्प की भांति खुलने वाला है जो नील गगन के देवी–देवताओं को आमंत्रित करता जान पड़ता है। इसके शीर्ष पर (नीचे के सिर पर) लगा गर्वोन्नत धर्म ध्वज भारतीय संस्कृति की भावधारा का उद्‌गायक है। राज्यकाल में इसे शासकों की ओर से चढ़वाया जाता था जो अधर्म पर धर्म की विजय का प्रतीक था। आज भी प्रतिवर्ष दशहरे पर यहां यह परम्परा बदस्तूर जारी है। मुख्य कलात्मक गर्भगृह के बाहर चारों ओर भूतल से शिखर तक सप्त–सप्त शृंग होने से इसे 'सप्त सुरलियों का मन्दिर' भी कहा जाता है। इस आशय के कारण

स्थानीय निवासी इसे 'सात सहेलियों का मन्दिर' कहते हैं। यहां गर्भगृह की उत्तरांग पट्टिका पर सप्त मातृकाओं की मूर्तियां भी इस आशय से सम्बन्ध रखती हैं। मध्य मण्डप के ऊपर चारों ओर सुन्दर व कलात्मक पाषाणी छत्रियों में आदमकद चार नागा साधु की मुंह बोलती मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं जो इस मन्दिर की भव्यता में चार चांद लगाती हैं। इन मूर्तियों में नागाओं का शारीरिक तप, शरीर का गठन, आंखों की भौहें तथा अंगुलियों के नाखूनों की कला देखने योग्य है। पर्यटक इस मन्दिर की भव्यता तथा मूर्तियों की अप्रतिम कला को देखकर अचम्भित रह जाते हैं। वे घण्टों तक इसके अनुपमेय भव्य निर्माण तथा शिल्पकला अलंकरण का बड़ी बारीकी से अध्ययन कर इसे 'मोस्ट यूनिक टेम्पल ऑफ इण्डिया' कहते हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय होगा कि राजस्थान और मालवा के प्राचीन मन्दिरों में अलंकृत शुकनासा युक्त शिखर इस पद्मनाभ मन्दिर की प्रमुख विशेषता है जिसका निर्वाह बाद में कई गर्वोन्नत मन्दिरों में हुआ। इस मन्दिर की शुकनासा के नीचे शिव महादेव की दक्षिणा मूर्ति बड़ी सुन्दरता तथा दर्शनभाव लिए हुए है। इसमें ब्रह्मा तथा विष्णु को शिव की उपासना करते हुए तथा उनसे नृत्य दीक्षा ग्रहण करते हुए दर्शाया गया है, जबकि अन्य देवी–देवता एवं ऋषि नृत्य का आनन्द लेते हुए एवं वाद्यवृन्द पर शिव महादेव के नृत्य के संग संगत करते हुए अंकित किये गये हैं।

शुकनासा के निकट सूर्य मंदिर की गज लक्ष्मी मूर्ति

मूर्ति (शिव) के दक्षिण हाथ की मुद्रा व्याख्यान रूप में है तथा ब्रह्मा, विष्णु की मुद्रा प्रणाम हेतु बद्धांजलि रूप में देखने योग्य है। यह मूर्ति मत्स्य पुराण के निर्देशों पर निर्मित है। शुकनासा के नीचे दक्षिण पक्ष में गजलक्ष्मी की एक सुन्दर मूर्ति है जो कमल पुष्प पर पद्मासन में विराजमान है।

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर

उक्त पद्मनाभ मन्दिर के निकट ही उत्कृष्ट शिल्पकला का एक सुन्दर व भव्य तीर्थंकर शांतिनाथ का दिगम्बर जैन मन्दिर स्थित है। 92 फीट ऊंचा यह मन्दिर अपनी शिल्पकला तथा स्थापत्य के कारण पुरातत्त्वविदों व पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र है। यह मन्दिर 11वीं सदी का बताया जाता है। इसका निर्माण शाह पापा हूमड़ नामक श्रेष्ठि ने 1046 ई. में करवाया था। इसकी प्राण प्रतिष्ठा भवदेवसूरी द्वारा सम्पन्न हुई थी। इस मन्दिर के निर्माण की लागत उस युग में 4 लाख रूपये बतायी जाती है। शाहपापा की मृत्यु का पता यहां की नसियां पहाड़ी पर लगे 1109 ई. के एक अभिलेख से चलता है। कृष्णदेव राय ने इस मन्दिर को कच्छपघात शैली का बताया है। यह पूर्वाभिमुखी है। इसके मूलगर्भ में काले पाषाण की 12–1/2 फुट (साढ़े बारह फीट) की सुन्दर तीर्थंकर शांतिनाथ स्वामी की दिगम्बर खड़गासन मुद्रा की मूर्ति प्रतिष्ठित है। जैन धर्म की बीस पंथी आम्नाय विधि से यह सदैव सुपूजित रहती है। मूर्ति अति सौम्य तथा तपभावों से सम्पृक्त है जिसके दर्शन से मन में अपूर्व वीतराग के भाव जाग्रत होते हैं।

झालावाड़ राज्य के पुरातत्त्ववेत्ता रहे पं. गोपाललाल व्यास ने इस मूर्ति पर अंकित लेख में संवत् 1145 (सन् 1088 ई.) पढ़ा था। संभावना है कि यह लेख इस मन्दिर में मूर्ति के प्रतिष्ठाकाल का रहा हो, क्योंकि मन्दिर निर्माण के पश्चात् ही मूर्ति की प्रतिष्ठा होती है। कर्नल जेम्स टाड ने इस मन्दिर के एक प्रस्तर फलक पर ज्येष्ठ तृतीया संवत् 1103 (सन् 1046ई.) पढ़ा

था जिसमें एक यात्री का (अस्पष्ट) नामोल्लेख है। मन्दिर के सभा मण्डप में उत्तर की ओर एक प्रस्तर लेख संवत् 1854 (1797 ई.) का लगा है। इस लेख का महत्व यह है कि 'संवत् 1854 में भट्टारक नर भूषण महाराज ग्वालियर से चतुर्मास करने यहां पधारे थे। उस समय उन्होंने यहां के जैन समाज पर इस मन्दिर की धूप दीप की व्यवस्था हेतु एक मणी अनाज पर आधा पैसा धर्मादा कर देने को निश्चित किया था।'

इसका मण्डोवर मूलरूप से मेरु मण्डोवर की श्रेणी में है, जबकि दक्षिण भाग में चन्द्रावती के किसी भग्न शिव मन्दिर की उत्कृष्ट मूर्तियां लाकर लगाई गई हैं। प्रतीत होता है कि यह कार्य 16वीं सदी में हुआ होगा। इन मूर्तियों में अन्धकासुर वध, शिवस्थानक आदि हैं। मुख्य रथिकाओं में कार्योत्सर्ग जैन मूर्तियां हैं, जबकि नीचे की रथिकाओं में शाक्त देवियों की मूर्तियां हैं। दक्षिण भाग में एक देवी मूर्ति है जिसकी अनेक भुजाओं में कटार, वज्र,

शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर

मन्दिर के गर्भगृह के बाहर कोलीमण्डप व गूढमण्डप बने हैं। प्रवेशद्वार पर चीनी मिट्टी के दो विशाल और सवारयुक्त श्वेतगज अपनी ऊंची सूण्ड उठाए अभिवादन मुद्रा में स्थापित हैं। मन्दिर की छत्रियों की तीखीं नोकों और छज्जों के पैनेपन को देखकर प्रतीत होता है, जैसे देवराज इन्द्र का ऐरावत विमान ज्यों का त्यों झालरापाटन की धरती पर उतार दिया हो। इस मन्दिर के वितान का 18वीं सदी में जीर्णोद्धार करवाया गया था। मन्दिर एवं शिखर प्राचीन है। इसके गूढ़मण्डप के स्तम्भों पर देवमूर्तियां व पुरुष युग्म बने हैं।

कमल, घण्टा, पुष्प व ढ़ाल हैं तथा एक हाथ खाली है। मन्दिर के पृष्ठ की रथिका में चक्रेश्वरी देवी की अष्टभुजा युक्त सुन्दर मूर्ति है, जबकि उत्तरी भाग में गजलक्ष्मी का सुन्दर अंकन है। रथिकाओं में अनेक सुन्दरियों को विभिन्न भाव मुद्राओं में अंकित कर उकेरा गया है। इनके मध्य में व्याल बने हुए हैं।

पुराविद कृष्णदेव ने अपनी रिपोर्ट में इस मन्दिर की कला की बड़ी प्रशंसा की है। उनके अनुसार मन्दिर के अन्दर का अन्तराल मूल रूप में हैं जिसके ठीक पृष्ठ में गंधमण्डप और फिर आन्तरिक गृह है। यह सब

पंचरथ पर है। इसका शिखर नागर स्थापत्य का श्रेष्ठतम उदाहरण है। मन्दिर का पीठ समतल पीठ के ऊपर निर्मित है। यह जाड्याकुम्भ, मकर, कर्णक तथा ग्रास पट्टिका से अलंकृत है। इसके ठीक उच्च भाग में वेदिबन्ध है जिसमें खुर व लम्बवत् कुम्भ सुशोभित हैं। इनमें जैन देव मूर्तियां स्थापित हैं। ठीक वैसे ही जैसे विशाल रत्न के साथ मध्य बन्ध की रत्न पट्टी कलश और कपोत से सुसज्जित अंगारिका व गंगारिका हैं। जन्घाओं की दो कतारों में खड़ी आकृतियां हैं जो ग्रासपट्टी द्वारा अलग होकर मध्यबन्ध तक निर्मित हैं। इनमें ऊपरी कतार नीचे की कतार से छोटी है।

इस मन्दिर के वे दो स्थान जहां से दीवार का मुख्य रूप से निर्माण आरम्भ होता है, मुख्यतः लतिकाओं से सुसज्जित और कुंजरक्षा से मण्डित है। शिखर की मूल मंजरी पंचरथ की है। केन्द्रीय रथ गज आकृति में है। शिखर की सज्जा बेजोड़ चैत्य गवाक्षों द्वारा की गई हैं जबकि कर्णरथ में ग्यारह भूमि अमल्काएं सुन्दर पच्चीकारी का उदाहरण है। केन्द्रीय रथ विशाल स्कन्ध के रूप में अमलिका, केन्द्रिका, छोटी अमलिका और इसके बाद इसे कलशों द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

लघु उरशृंग यहां नक्काशीदार रथिका की मूलमंजरी के आधार पर बने हैं। इनमें भी इन शृंगों पर उरशृंग बने हैं जो कर्णों से छोटे हैं। सभी शृंग अमलिका, चन्द्रिका, कलश तथा बीजपूरक से आवृत हैं। अन्तरालय की छत पर एक पंक्ति में शृंग प्रदर्शित हैं जो समानान्तर रूप में दो पंक्तियों में बेजोड़ पच्चीकारी से निर्मित हैं।

जन्घाओं की क्रियान्विती आकृति शिल्प में नियोजित है जबकि भद्रों का निर्माण जैन देव मूर्तियों से निर्मित हैं। भद्रों की शिल्पाकृतियों के मुकुट, तोरंग और कीर्तिमुखों से निर्मित हैं। इनमें जैनदेव, यक्ष–यक्षिणी व विद्यादेवियों की मूर्तियां बनी हुई हैं। प्रतिरथ के कर्णों पर दिक्पाल बने हुए हैं। मन्दिर में कहीं–कहीं क्लिष्ट कच्छपघात की शिल्पाकृति दो कतारों में है जो जन्घा और स्तम्भ शकों को दैविक सजावट से द्वार की ओर ले जाती है। पर्यटक और शोधार्थियों के लिए यह मन्दिर देखने और अध्ययन करने योग्य है। पूरा मन्दिर परकोटे से घिरा है। इसके परिसर में 2000 लोगों के साथ बैठने की व्यवस्था है। इसमें एक विशाल व कलायुक्त वेदिका भी हैं जिस पर जैन मुनि बैठकर प्रवचन करते हैं। मन्दिर में चारों ओर बरामदे हैं जिनकी दीवारों पर जैनधर्म के तीर्थों व क्रियाकलापों का चित्रांकन है। इसी बरामदे के उत्तर में एक सुन्दर सेठों की चांदी की वेदी बनी हुई है। इसका निर्माण सेठ बिनोदीराम बालचन्द परिवार के धार्मिक एवं समाजसेवी सेठ नेमीचन्द सेठी ने करवाया था। उन्होंने इसमें रजत जैन तीर्थंकर मूर्तियों की भव्य स्थापना करवाकर यहां एक उत्सव भी किया था। वेदी की प्राचीन सजावट देखने योग्य है। इस वेदी में धातु की अनेक सुन्दर जिन मूर्तियां शिल्प की दृष्टि से अध्ययन करने योग्य हैं।

प्राचीनकाल में इस मन्दिर की बहुत प्रसिद्धि थी। अनेक श्रावक और जैन मुनि इसके दर्शनों के लिए आते रहते थे। इस मन्दिर में कई जैन मूर्तियां हैं जो जैन धर्म के मूलसंध, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के भट्टारक सकलकीर्ति और उनके शिष्यों द्वारा प्रतिष्ठित हैं। पर खुदे दुर्लभ लेखों का परिचय इस प्रकार है –

उपर्युक्त सभी वर्णित भट्टारक बलात्कारगण की ईडर शाखा के थे। इस नगर में जैनधर्म के सांवलिया पार्श्वनाथ, आदिनाथ, चन्द्राप्रभु व पार्श्वनाथ स्वामी के जैन मन्दिर हैं। इसमें चन्द्राप्रभु मन्दिर में तीर्थंकर शीतलनाथ स्वामी की सुन्दर मूर्ति प्रतिष्ठित है। शान्तिनाथ स्वामी के इस मन्दिर में एक सुन्दर और पुरानी जल घड़ी भी है जो पुराने समय में जल से समय अवधि को प्रदर्शित करती थी। यह आज भी संचालित है।

****

शुभ कार्यों की शुरुआत का दिन मकर संक्रांति

भुवनेश्वर राय, स्वतंत्र लेखक
एस–672, ए, स्कूल ब्लॉक,
शकरपुर, दिल्ली

आध्यात्मिक एवं धार्मिक विचारधारा के अनुसार भारत में प्राचीन काल से ऐसा माना जाता है कि सूर्य देवता के आशीर्वाद से मानव के शुभ काम होते हैं। सूर्य के मकर राशि में प्रवेश के साथ ही सूर्य उत्तरायण होते हैं, इस कारण इसी काल से देवताओं के दिन शुरु होते हैं। सूर्य सिद्धांत के अनुसार कर्क से धनु के सूर्य तक 6 माह देवताओं की रात्रि होती है। मकर से मिथुन के सूर्य तक 6 माह देवताओं के दिन होते हैं। देवताओं के दिन की शुरुआत संक्रांति से माना जाती है। यह दिन शुभ कार्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए इसे मकर संक्रांति पर्व कहा जाता है।

मकर संक्रांति भारत का एक ऐसा त्योहार है जो शीत काल में साल के प्रारंभ में मनाया जाता है। अलग अलग राज्यों में इसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कहीं पर लोहड़ी, कहीं पोंगल, कहीं माघ बिहु तो कहीं इसे खिचड़ी के नाम से जाना जाता है। कई के नामों वाले इस त्योहार को जगह जगह मनाने का तरीका भी अलग अलग है। इसे क्यों मनाया जाता है, इसके पीछे की दो विचारधाराएं हैं। एक व्यावहारिक और दूसरी धार्मिक विचारधारा। धार्मिक विचारधारा के अनुसार ही गंगा सागर में प्रति वर्ष विशाल मेला लगता है। एक मान्यता यह है कि मकर संक्रान्ति के दिन ही गंगा जी ऋषि भगीरथ के पीछे पीछे चलते हुए कपिल मुनि के आश्रम के निकट से होकर सागर में जा मिली थीं। दूसरी मान्यता यह भी है कि इस दिन यशोदा ने भगवान श्रीकृष्ण को प्राप्त करने के लिए व्रत किया था। इस दिन गंगासागर में स्नान–दान के लिये लाखों लोगों की भीड़ होती है। लोग कष्ट उठाकर भी गंगा सागर की यात्रा करते हैं।

14 दिसम्बर से 14 जनवरी तक का समय खर मास के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार पूरे एक महीने तक किसी भी अच्छे काम को अंजाम नहीं दिया

मकर संक्रांति पर स्नान करते हुए श्रद्धालु

जाता है। 14 जनवरी यानी मकर संक्रान्ति से पृथ्वी पर अच्छे दिनों की शुरुआत होती है। माघ मेले का पहला स्नान मकर संक्रान्ति से शुरु होकर शिवरात्रि के आखिरी स्नान तक चलता है। संक्रान्ति के दिन स्नान के बाद दान देने की परंपरा है।

पंजाब और हरियाणा में मकर संक्रांति को माघी के रूप में मनाया जाता है। माघी के दिन तड़के नदी में स्नान का विशेष महत्व है। हिंदू लोग तिल के तेल से दीपक जलाते हैं क्योंकि यह समृद्धि देने वाला और सभी पापों को दूर करने वाला माना जाता है। माघी पर श्री मुक्तसर साहिब में एक प्रमुख मेला आयोजित किया जाता है जो सिख इतिहास में एक ऐतिहासिक घटना की याद दिलाता है। यहां पर भांगड़ा और गिद्दा किया जाता है, जिसके बाद सारे बैठकर खिचड़ी, गुड़ और खीर खाते हैं। संक्रांति या माघी से एक रात पहले लोहड़ी मनाई जाती है। माघी के अगले दिन से किसान अपने वित्तीय वर्ष की शुरुआत करते हैं। पंजाब में गन्नों के रस से खीर बनाई जाती है। वहां यह त्योहार 14 जनवरी के स्थान पर 13 जनवरी को रात में मनाया जाता है। अंधेरा होते ही आग जलाकर अग्निदेव की पूजा करते हुए तिल, गुड़, चावल और भुने हुए मक्के की आहुति दी जाती है। इस सामग्री को तिलचौली कहा जाता है। इस अवसर पर लोग मूंगफली, तिल की बनी हुई गजक और रेवड़ियां आपस में बांटकर खुशियां मनाते हैं। बहुएं घर–घर जाकर लोकगीत गाकर लोहड़ी मांगती हैं। नई बहू और नवजात बच्चे के लिये लोहड़ी का विशेष महत्व होता है।

लोहड़ी लोकगीत गाती महिलाएं

राजस्थान के कुछ भागों में इसे संक्रांति के नाम से जाना जाता है। इस अवसर पर परंपरा के रूप में पतंगबाजी भी उत्साह के साथ की जाती है। राजस्थान में इस पर्व पर सुहागन महिलाएं अपनी सास को वायना देकर आशीर्वाद प्राप्त करती हैं। साथ ही महिलाएं किसी भी सौभाग्य सूचक वस्तु का चौदह की संख्या में पूजन एवं संकल्प कर चौदह ब्राह्मणों को दान देती हैं।

ऐसी मान्यता है कि गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम पर तीर्थराज प्रयाग में 'मकर संक्राति' पर्व के दिन सभी देवी–देवता अपना स्वरूप बदल कर स्नान के लिए आते हैं। इस मौके पर इलाहाबाद (प्रयाग) के संगम स्थल पर हर साल लगभग एक मास तक माघ मेला लगता है, जहां लोग कल्पवास भी करते हैं। यहां बारह साल में एक बार कुंभ मेला लगता है। यह भी लगभग एक महीने तक रहता है। इसी तरह 6 वर्षों में अर्धकुंभ मेला भी लगता है। मकर संक्रान्ति पर्व हर साल 14 जनवरी को पड़ता है।

उत्तर प्रदेश में मकर संक्रांति को दान पर्व के रूप में जानते हैं। इस दिन दान के साथ ही इलाहाबाद के गंगा, यमुना, सरस्वती के संगम पर माघ मेला लगता है। यहां स्नान करने का अपना अलग ही महत्त्व है। इलाहाबाद में हर साल माघ मेले की शुरुआत होती है। उत्तर प्रदेश में इसे खिचड़ी के नाम से जाना जाता है। कुमाऊं और गढ़वाल में इस उत्सव को बहुत खूबसूरत तरीके से मनाया जाता है। कुमाऊं में जहां इसे धुधुतिया कहते हैं, वहीं गढ़वाल में इसे खिचड़ी संक्रांत कहा जाता है। भारतीय धार्मिक ग्रंथों के अनुसार, उत्तरायण के दिन सूर्यदेव मकर राशि में प्रवेश करते हैं, यानी इस दिन से सूर्य 'उत्तरायण' हो जाता है। इस दिन से मौसम में बदलाव होता है और पहाड़ी चिड़िया घुघुती पहाड़ों पर वापसी करती हैं।

इस अवसर पर कुमाऊं में घुघुती बनाई जाती है जो एक तरह की मिठाई होती है। इसे अलग–अलग आकार में बनाया जाता है। घुघुती चिड़िया के स्वागत के अवसर पर इसे बनाने की परंपरा है। इसे आटे और गुड़ से बनाया जाता है और गढ़वाली घरों में खिचड़ी बनाई जाती है और उसे दान भी दिया जाता है।

इन राज्यों के अलावा अन्य कई राज्यों, हिमाचल प्रदेश, कश्मीर, ओडिशा आदि में भी अलग–अलग तरह से मकर संक्रांति पर्व मनाया जाता है। वहां यह पर्व उस राज्य की परंपरा एवं रीतिरिवाज के अनुसार मनाया जाता है। मध्य प्रदेश में पतंगबाजी को त्योहार के रूप में मनाने की परंपरा है। यह मध्य प्रदेश में बहुत लोकप्रिय है। इसके कुछ हिस्सों में इसे संक्रांत के नाम से भी जाना जाता है। आमतौर पर महिलाएं इसमें एक अनुष्ठान करती हैं जिसमें वे

त्रिवेणी संगम पर माघ मेले का दृश्य

विवाहित महिलाओं को किसी भी प्रकार की वस्तु, जैसे श्रृंगार का सामान आदि देती हैं।

बिहार में भी मकर संक्रान्ति को खिचड़ी नाम से जाना जाता है। इस दिन उड़द, चावल, तिल, चिवड़ा, गौ, स्वर्ण, ऊनी वस्त्र, कम्बल आदि दान करने का अपना विशेष महत्त्व है। बाद में चावल, उड़द, आदि डालकर खिचड़ी बनाई जाती है। चिवड़ा, दही, चीनी, गुड़ मिलाकर खाई जाती है। तिल, चिवड़ा, तिल, गुड़ आदि की लाई बनाई जाती है। बंगाल में इस पर्व पर स्नान के बाद तिल दान किया जाता है। यहां गंगा सागर में नहाने की प्रथा है।

महाराष्ट्र में ऐसा माना जाता है कि मकर संक्रांति से सूर्य की गति तिल–तिल बढ़ने लगती है, इसलिए इस दिन तिल के बने मिष्ठान बनाकर एक–दूसरे को बांटने की परंपरा है। महाराष्ट्र में इस दिन सभी विवाहित महिलाएं अपनी पहली संक्रान्ति पर कपास, तेल व नमक आदि चीजें अन्य सुहागिन महिलाओं को दान करती हैं। यहाँ तिलगुड़ नामक हलवे के बांटने की प्रथा भी है। लोग एक दूसरे को तिल गुड़ देते हैं और देते समय बोलते हैं तिल गुड़ लो और मीठा–मीठा बोलो।

इस दिन महिलाएं आपस में तिल, गुड़, रोली और हल्दी बांटती हैं। महाराष्ट्र की डिश 'पूरन पोली' भी उस दिन खूब बनाई जाती है। यह महाराष्ट्र की एक प्रसिद्ध डिश है। वहां आप कहीं भी चले जाएं, आपको यह डिश आसानी से मिल जाएगी। पूरन पोली की खास विशेषता है कि यह बहुत ही कम समय में तैयार हो जाती है। इसके मीठे स्वाद की वजह से लोग इसे पसंद करते हैं। इसके स्वाद के चलते अब यह 'पूरन पोली' पूरे देश में प्रसिद्ध है और सभी लोग इसे शौक से खाते हैं।

गुजराती में मकर संक्रांति को उत्तरायण कहा जाता है। यहां इस दिन बहुत बड़ा पर्व मनाया जाता है जो दो दिनों तक चलता है। 14 जनवरी को उत्तरायण और 15 जनवरी को बासी–उत्तरायण है। गुजरात में दिसंबर से मकर संक्रांति तक लोग उत्तरायण का आनंद लेने लगते हैं। यहां बड़े उल्लास से पतंग उत्सव मनाया जाता है और उंधियू और चिक्की इस उत्सव के विशेष व्यंजन हैं।

तमिलनाडु में यह त्योहार पोंगल के रूप में चार दिन तक मनाया जाता है। प्रथम दिन भोगी–पोंगल, द्वितीय दिन सूर्य–पोंगल, तृतीय दिन मट्टू–पोंगल अथवा केनू–पोंगल और चौथे व अन्तिम दिन कन्या–पोंगल। पहले दिन कूड़ा करकट इकट्ठा कर जलाया जाता है। दूसरे दिन लक्ष्मी जी की पूजा की जाती है और तीसरे दिन पशु धन की पूजा की जाती है।

पोंगल मनाने के लिये स्नान करके खुले आंगन में मिट्टी के बर्तन में खीर बनायी जाती है जिसे पोंगल कहते हैं। इस अवसर पर सूर्य देव को नैवैद्य चढ़ाया जाता है। उसके बाद खीर को प्रसाद के रूप में सभी ग्रहण करते हैं। घरों के अंदर सुन्दर मनभावन रंगोली बनाई जाती है। इस दिन भगवान कृष्ण की पूजा करने का रिवाज है। ऐसे मौके पर यहां चावल के पकवान बनाये जाते हैं।

इस प्रकार मकर संक्रान्ति के माध्यम से भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की झलक विविध रूपों में दिखती है। इस पर्व को व्यावसायिक लोग खेती–किसानी परम्परा से जोड़ते हैं। उनके अनुसार भारत एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के लोगों की आजीविका का प्रमुख क्षेत्र कृषि है। इसी सोच एवं मान्यता के अनुसार शरद काल में खेती की फसल तैयार होने पर सबसे पहले उस फसल को घर में लाया जाता है। इस प्रकार मकर संक्रांति का पर्व पूरे भारत में पूर्ण उल्लास एवं उमंग के साथ मनाया जाता है।

*****

संस्कृति मंत्रालय की हिंदी सलाहकार समिति की दिनांक 29 अगस्त, 2022 को आयोजित बैठक

माननीय संस्कृति राज्य मंत्री श्री अर्जुन राम मेघवाल द्वारा 'संस्कृति' पत्रिका का विमोचन

आज़ादी का अमृत महोत्सव

संस्कृति मंत्रालय के अंतर्गत हैदराबाद में स्थित कार्यालयों के पदधारियों के लिए केन्द्रीय सांस्कृतिक स्रोत एवं प्रशिक्षण केन्द्र में आयोजित राजभाषा कार्यशाला के चित्र

आज़ादी का अमृत महोत्सव

कोणार्क स्थित सूर्य मंदिर के घोड़े का दृश्य

सत्यमेव जयते

भारत सरकार

संस्कृति मंत्रालय